गद्य-रत्नावली

श्यामसुंदरदास बी० ए०

GADYA-RATNAWALI

A SELECTION FROM PROMINENT WRITERS OF
MODERN HINDI
SUITED FOR

High School Classes of the United Provinces

Compiled and edited by

SYAM SUNDAR DAS, B. A.

THE INDIAN PRESS, LTD.,
ALLAHABAD.

1944

गद्य-रत्नावली

अर्थात्

आधुनिक हिंदी के प्रमुख गद्य-लेखकों
के चुने निबंधों का संग्रह

[संयुक्त प्रदेश के हाई स्कूल-क्लासों के निमित्त]

जिसे

श्यामसुंदरदास बी० ए०

ने

संकलित तथा संपादित किया

१६४४

मूल्य १।)

FOREWORD

SOME years ago I have prepared a selection from the writing of the prose writers of modern Hindi, suited to the requirements of High School Classes. This selection had gone into many editions and had been largely used. It has now been thoroughly revised and is now being published under a new title. The present edition consists of 21 selections from the writings of prominent writers of modern Hindi Prose providing a wide range of subjects in various styles. The pieces have been selected with the object of stimulating thought, creating interest in Hindi Prose Literature and supplying models of style, as well as a variety of subjects. Another object which has been kept in view is to place such pieces in the hands of the students of High School classes in the United Provinces, as may provide useful and adequate preparation for the higher, critical and scientific study of Hindi Language and Literature in the College classes. But much will depend, as it has always depended, on the methods which are adopted in teaching these lessons old antiquated methods of telling only the meanings of words and explanation of phrases which are unfortunately still in vogue in most of the High Schools of these provinces, will not do now, if Hindi Literature is to continue to occupy the position which has been given to it in colleges and universities during recent years. What is wanted is to stimulate a critical spirit among the students of Hindi by drawing their attention to the beauties of style and phraseology, to the construction of sentences and to the spirit of the writer, as expressed by his thoughts and the manner in which he has given expression to them. At the same time adequate stress should be laid on imbibing a spirit of critical appreciation of words and thoughts. Intelligent and modern methods of teaching will go a long way towards raising the standard of teaching Hindi Language and Literature and providing

necessary preparation for higher studies in them or intelligent appreciation of Hindi prose works by private and independent study.

The one great weakness which has been observed among the candidates for the High School Examination is a deplorable lack of the power of expression and weak and faulty composition. Constant practice and intelligent guidance will undoubtedly prove of great value. The easiest way to make a beginning in the High School classes is to select suitable sentences from the text-book and to ask the students to expand the thoughts embodied in them in their own language. This will not only give them the desired practice in composition but will also stimulate the power of thinking for themselves. Little attention is paid at the present time to reading and dictation, which explains to a large degree the want of interest and appreciation among the students of what they read. To those teachers who are engaged in the noble task of teaching Hindi, I would suggest to consult my book "Anulekha Mala." published by the Newal Kishore Press, Lucknow; it is hoped, will prove of some help in adopting the right method of teaching both reading and dictation. A great and born teacher will no doubt evolve a suitable method of teaching Hindi in his own way, but I think what I have given there will prove of some help to a large number of teachers.

At the end of the present selection, useful and necessary notes have been added to help and guide the students and the teachers.

The Compiler.

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

विषय			पृष्ठ
१ रानडे की देश-सेवा (रामनारायण मिश्र)		...	१
२ बातचीत (बालकृष्ण भट्ट)	...	...	९
३ एक दुराशा (बालमुकुंद गुप्त)	...	...	१८
४ बीज की बात (राय कृष्णदास)	...	...	२२
५ वृद्ध (प्रतापनारायण मिश्र)	...	...	२९
६ "इत्यादि" की आत्मकहानी (यशोदानंदन अखौरी)			३४
७ मिलन (ज्वालादत्त शर्म्मा)	...	...	४१
८ कर्त्तव्य और सत्यता (श्यामसुंदरदास)		...	५९
९ मित्रता (रामचंद्र शुक्ल)	...	...	६७
१० सागर और मेघ (राय कृष्णदास)	...	...	८३
११ त्याग और उदारता (राधाकृष्णदास)	...	...	८८
१२ महाराणा प्रतापसिंह (गौरीशंकर हीराचंद ओझा)			१०२
१३ उद्देश्य और लक्ष्य (रामचंद्र वर्म्मा)	...	...	१०६
१४ वज्रपात (प्रेमचंद)	...	...	१२६

विषय			पृष्ठ
१५ साहित्य की महत्ता (महावीर प्रसाद द्विवेदी)		...	१४१
१६ ममता (जयशंकर 'प्रसाद')	...	...	१४७
१७ सूरदास (श्यामसुंदरदास)	...	...	१५४
१८ कवित्व (चतुर्भुज औदीच्य)	...	...	१६३
१९ श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता (लक्ष्मण नारायण गर्दे)			१७२
२० उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी)	...	...	२०२
२१ संतों की सहिष्णुता (मन्नन द्विवेदी)	...	...	२२२

टिप्पणी

गद्य-रत्नावली

(१) रानडे की देश-सेवा

स्वर्गवासी ह्यूम साहब ने, जिनको कांग्रेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सर्विस के बड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध लोगों से परिचय था, रानडे के संबंध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिसको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता था, तो वह व्यक्ति रानडे था।" मिस्टर ह्यूम उनको "गुरु महादेव" कहकर पुकारते थे। रानडे के जीवन का बहुत सा समय पूना और बंबई में व्यतीत हुआ था। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानडे पूना के बिना छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी संस्था ऐसी नहीं बनी जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा जिसकी उन्नति में योग न दिया हो।

सन् १८६२ ई० में 'इंदुप्रकाश' पत्र अँगरेजी और मराठी में निकलने लगा। इसके अँगरेजी विभाग के संपादक रानडे नियुक्त हुए। उस समय इस देश में पत्रों की संख्या बहुत

कम थी और पत्र-संपादन की योग्यता भी लोगों में कम थी। रानडे के लेखों ने सरकार और शिक्षित समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित करा दिया। उनके अनेक बड़े महत्त्वपूर्ण लेख छपे, जिन्होंने—विशेषकर पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने—इस पत्र को बड़ा सर्वप्रिय कर दिया।

सन् १८७१ ई० में वे पूना के सब-जज हुए थे और सन् १८९३ ई० तक प्रायः वहीं रहे। बीच बीच में यदि कहीं बदली भी होती तो वे घूम-फिरकर फिर पूना पहुँच जाते थे। पूना के देशभक्तों, भिन्न भिन्न संस्थाओं के प्रवर्तकों और कार्य-कर्त्ताओं की सदैव उनके यहाँ भीड़ लगी रहती थी। देश-हित का ऐसा कोई कार्य न था जिससे उनका अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक और राजनीतिक उन्नति एक साथ होनी चाहिए। वे दूरदर्शी और गंभीर थे। उनका विश्वास था कि धैर्य, शांति और विचार से कार्य अधिक होता है और उसका प्रभाव अमिट होता है। उन्हें विद्रोह, विप्लव और अशांति से घृणा थी। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था—"सुधार करनेवालों को केवल कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि वे अर्द्धलिखित वाक्य को पूर्ण करें। जो लोग कुछ किया चाहते हैं वे अपने अभिलषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब उसे सत्य मान लें जो प्राचीन काल में सत्य ठह-राया गया है और बहाव में कभी यहाँ और कभी वहाँ धीमा

सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर बरबस ले जायँ।" पर उनके शब्द-कोष में शांति का अर्थ आलस्य नहीं था। जहाँ जहाँ वे रहते वहाँ की अवस्था के सुधार में तन, मन, धन से लग जाते। पूना में पच्चीसों संस्थाएँ हैं जिनको उन्होंने जीवन प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा का, जिसको सन् १८७१ ई० में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो किसी समय में प्रसिद्ध राजनीतिक सभा थी, सब कार्य वे ही किया करते थे। राजनियम-संबंधी सुधार पर जितने पत्र यह सभा गवर्मेंट को भेजा करती थी, प्रायः उन सबको वे ही लिखा करते थे। उन्हीं की सलाह से सन् १८७६ ई० के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल-पीड़ित लोगों की रक्षा के लिये ऐसे उत्तम उपाय किए थे जिनसे यह सबकी प्रशंसापात्र बन गई थी। उन्हीं ने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जिसमें वे स्वयं बड़े गंभीर, सामयिक और महत्त्व के लेख लिखते थे। उनकी मृत्यु के अनंतर "टाइम्स आफ़ इंडिया" पत्र ने लिखा था कि "इनके वे पुराने लेख यदि पुस्तकाकार छपवा न लिए जायँगे तो एक प्रसिद्ध देशहितैषी के विचारपूर्ण लेख गुप्त ही रह जायँगे।"

पूना के उस फर्ग्युसन कालिज के भी रानडे संस्थापकों में से थे जो इस समय भारतवर्ष में विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों के आत्मसमर्पण में सबसे बड़ा कालिज समझा

जाता है। पूना-पुस्तकालय और प्रार्थना-समाज के भवन उन्हीं की सहायता और उत्तेजना से बने थे।

सन् १८७५ ई० में वसंत-व्याख्यान-माला रानडे और उनके मित्रों ने स्थापित की थी जिसमें इतिहास, पुराण, समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों पर मराठी भाषा में प्रति वर्ष व्याख्यान होते थे और अब भी हुआ करते हैं।

पूना में रानडे से पचास वर्ष पहले एक सभा थी जो मराठी भाषा में पुस्तकों का अनुवाद करती थी। यह सभा टूट गई थी और इसका रुपया बंबई के एकौंटेंट-जनरल के दफ़्तर में जमा था। रानडे का विचार भी इसी प्रकार की एक सभा खोलने का था। जब उनको मालूम हुआ कि पुरानी सभा का रुपया गवर्मेंट में जमा है, तब उन्होंने उस सभा का पुनरुद्धार किया और सरकार में जमा किया हुआ रुपया व्याज-सहित वसूल किया।

पूना में एक कंपनी है जिसके द्वारा रेशमी और सूती कपड़े बनते हैं। एक समय में इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई थी, परंतु रानडे ने इसकी रक्षा की। इसी प्रकार वहाँ के पेपर-मिल को उन्होंने सुधारा। वक्तृतोत्तेजक सभा, वसंत-व्याख्यान-माला इत्यादि के प्रबध में भी आपने योग दिया था। एक पंचायत आपने स्थापित कराई थी जो मुकद्दमे-वालों में मेल कराती थी। हीराबाग में टाउनहाल आप ही के उद्योग से बना था। एक अजायबघर भी आपने

स्थापित कराया था। इसी प्रकार की अनेक संस्थाएँ आपके पूना-निवास-काल में स्थापित हुई थीं। जब वहाँ से नासिक और धूलिया में उनकी बदली हुई तब वे छुट्टियाँ पूना ही में बिताते थे। दिन के बारह-एक बजे तक और रात को दस बजे तक लोग इनके यहाँ जमा रहते थे। हर रोज किसी न किसी सभा, कमेटी अथवा अन्य प्रकार के देशहित के कार्य के आरंभ के लिये प्रस्ताव होते थे। कभी कभी उनको केवल दो घंटे सोने का अवकाश मिलता था। एक दो बार तो नवीन विचारों की चिंता ही में सवेरा हो गया। इस प्रकार पूना में वे अपनी छुट्टियाँ बिताते थे। जब वे पूना से बंबई हाईकोर्ट की जजी पर गए तब उन्होंने २५०००) अनेक संस्थाओं को दान दिया था।

जब आप नासिक बदल गए तब वहाँ जाकर भी आपने प्रार्थना-समाज स्थापित किया, स्त्रियों के लिये व्याख्यान उपदेश आदि का प्रबन्ध किया, कन्या-पाठशाला की उन्नति की। फिर जब धूलिया ऐसी जगह में बदली हो गई तब वहाँ जाकर भी वे देश-सेवा के अनेक उपाय करने लगे। जब वे दौरे का काम करते थे तब गाँवों में या कसबों में कन्या-पाठशालाएँ अथवा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

बंबई विश्वविद्यालय के फेलो आप १८६५ ई० में चुने गए थे। बंबई पहुँचकर आपने यूनिवर्सिटी का काम करना आरंभ कर दिया। उस समय सर मंगलदास नाथूभाई ने मृत्यु से पहले एक वसीयतनामे में ३॥ लाख रुपया यूनिवर्सिटी

को देने को लिखा था, परंतु उनके उत्तराधिकारियों में झगड़ा हो गया। इस अवस्था में वे यूनिवर्सिटी को एक पैसा भी देना नहीं चाहते थे। पर रानडे ने प्रेम और युक्ति द्वारा उनको रुपया देने पर राजी कर लिया। इस बात को बंबई के लाट लार्ड नार्थकोर्ट ने अपने कनवोकेशन के व्याख्यान में, उनकी मृत्यु के उपरांत, कहा था।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किया। यूनिवर्सिटी परीक्षाओं के स्थापित होने के समय में, सन् १८५९ ई० में, देशी भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं; परंतु सन् १८७० ई० से वे परीक्षाओं से यह कहकर निकाल दी गई कि उनमें संस्कृत और अरबी के ऐसा साहित्य नहीं है। रानडे ने एक बार विश्वविद्यालय के अनेक मेंबरों के हस्ताक्षर से, जिनमें कई मुसलमान और पारसी भी थे, एक पत्र यूनिवर्सिटी में इस विषय का भिजवाया कि बी० ए० और एम० ए० के अनेक विषयों में मराठी और गुजराती को भी स्थान दिया जाय और प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकार रहे कि यदि वह चाहे तो इन देशी भाषाओं में भी परीक्षा दे सके। जब यह विषय सेंडिकेट में उपस्थित किया गया, रानडे ने बड़ी योग्यता से इसका समर्थन किया। पर उपस्थित सभासदों की सम्मति ली जाने पर आधे इसके पक्ष में और आधे विरुद्ध हो गए। जो महानुभाव सभापति के आसन पर विराजमान थे उन्होंने विरुद्ध सम्मति दी, जिससे यह प्रस्ताव पास नहीं

हुआ। देशी भाषाओं के भक्तों को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उनमें से कई एक का उत्साह कम हो गया। परंतु रानडे ने उनको समझाया कि इस विषय में कुल सभासदों में आधे का भी पक्ष में हो जाना भविष्य के लिये अच्छे लक्षण हैं। जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे उनको अपनी ओर लाने के लिये उस समय उन्होंने मराठी भाषा का एक इतिहास लिखा। बहुत से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में केवल गँवारी बातें हैं, उनमें साहित्य का नाम भी नहीं। रानडे ने ग्रंथों का नाम, उनकी विषय-सूची और ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण लिखकर इस इतिहास में यह दिखलाया कि मराठी भाषा में पद्य के बहुमूल्य ग्रंथ मिलते हैं जिनमें विद्वानों को साहित्य का पूर्ण रसास्वाद प्राप्त हो सकता है। हाँ, गद्य के ग्रंथों का अवश्य अभाव है, पर यह दोष संस्कृत में भी है। इस प्रकार लोगों का मत परिवर्त्तन करने का पूरा प्रयत्न करके रानडे ने फिर इस विषय को सेंडिकेट में उपस्थित कराया। सेंडिकेट ने इस विषय पर विचार करने के लिये तीन सभासदों अर्थात् मिस्टर रानडे, सर फीरोजशाह मेहता और डाक्टर माकीकन की एक सब-कमेटी बना दी। इस सब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय का समर्थन किया कि अँगरेजी कोर्स के साथ संस्कृत और फारसी के बदले मराठी या गुजराती पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। सब-कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि मराठी और गुजराती जीवित भाषाएँ

हैं। इन भाषाओं और इनके इतिहास का ज्ञान बालकों के लिये अत्यंत लाभकारी होगा। उन्होंने यह भी बतलाया कि अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग अँगरेजी साहित्य, अँगरेजी इतिहास और विज्ञान आदि विषयों पर देशी भाषाओं में जनता के उपकारार्थ उस समय तक ग्रंथ नहीं लिख सकते जब तक उनको इन भाषाओं का ज्ञान न होगा। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से इस सब-कमेटी ने प्रस्ताव किया कि एम० ए० परीक्षा के लिये मराठी और गुजराती रखी जाय। इनका पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ा जाय। सब-कमेटी की रिपोर्ट का बहुत सा अंश रानडे ने लिखा था। २९ जनवरी सन् १९०१ ई० को सेनेट ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कानड़ी भाषा को भी एम० ए० की परीक्षा में स्थान दिया; परंतु इसके पूर्व रानडे इस संसार से बिदा हो चुके थे।

रानडे की देश-सेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश-सेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के वे उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज-सुधार और विद्याप्रचार-संबंधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की संपत्ति के समान हैं।

—रामनारायण मिश्र

——

(२) बातचीत

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं उनमें वाक्-शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और और इंद्रियाँ अपनी अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति मनुष्यों में न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानों कोने में बैठा दिए गए होते और जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हम अपनी दूसरी दूसरी इंद्रियों के द्वारा करते उसे, अवाक् होने के कारण, आपस में एक दूसरे से कुछ न कह-सुन सकते। इस वाक्-शक्ति के अनेक फायदों में "स्पीच" वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किन्तु स्पीच से बातचीत का ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह बड़े अंदाज से गिन गिन कर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवचन या नांदी-पाठ की भाँति घड़ियों तक साहवान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज एंड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति करे-करावे और तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि तालि-

ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिये वक्ता को खामखाह ढूँढ़-कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतलध्वनि अवश्य हो।

वही हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है, न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात ही रहती है। हम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुसकराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिये खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यंत आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुवाँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिए भाप बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मजा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है पर वे बातचीत का मजा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो का किस्सा बहुधा लोगों

ने पढ़ा होगा जिसे १६ वर्ष तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह १६ वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि इसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनंद हुआ मानों इसने नए सिरे से फिर आदमी का चोला पाया। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में कहाँ तक लुभा लेने की ताकत है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ उन्हें अपने प्रेमी से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रकट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-दोष प्रकट नहीं होता। बेन जानसन का यह कहना, कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो व्यक्तियों में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गई। कहा भी है कि छः कानों में पड़ी बात खुल जाती

है। दूसरे यह कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास सॉट के रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है, अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखें भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर होगा, इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानों एक त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानों उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गई वह मानों अँगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरांत जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल रामरमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते।

इस वातचीत के अनेक भेद हैं। दो वुड्ढों की वातचीत प्रायः जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे वावा आदम के समय का ऐसा दास्तान शुरू करते हैं जिसमें चार सच तो दस झूठ। एक वार उनकी वातचीत का घोड़ा छुट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अंत न होगा। प्रायः अँगरेजी राज्य, परदेश और पुराने समय की वुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सव भाँति लायक नौजवानों की निंदा उनकी वातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिलटन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर चूर 'हमचुनी दीगरे नेस्त', अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। दो हमसहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस का समुद्र मानों उमड़ा चला आ रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी वातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो वुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण, वहू-वेटीवाली हुई तो, अपनी वहुओं या वेटों का गिल्ल-शिकवा होगा या वे विरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ वैठेंगी कि वात करते करते अंत में खोढ़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की वातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी अपनी तारीफ करने के वाद वे कोई सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की वातचीत

का उद्देश्य अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत सी किस्में हैं। राजकाज की बात, व्यापार-संबंधी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह-संबंध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रस्म बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यूरप के लोगों में बात करने का हुनर है। "आर्ट आफ कनवरसेशन" यहाँ तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनों इसे नहीं पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्यकला प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हें सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद्-गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद्-गोष्ठी की बातचीत की यह तारीफ है कि बात करनेवालों की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट

कहीं एक बात में न प्रकट हो वरन् क्रम रसाभास पैदा करने-वाले सभों को बरकते हुए चतुर सयाने अपनी बातचीत को अक्रम रखते हैं। वह हमारे आधुनिक शुष्क पंडितों की बात-चीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं। मुर्गे और बटेर की लड़ाइयों की झपटा-झपटी के समान उनकी नीरस काँव काँव में सरस संलाप की तो चर्चा ही चलाना व्यर्थ है, वरन् कपट और एक दूसरे को अपने पांडित्य के प्रकाश से वाद में परास्त करने का संघर्ष आदि रसाभास की सामग्री वहाँ बहुतायत के साथ आपको मिलेगी। घंटे भर तक काँव काँव करते रहेंगे तो कुछ न होगा। बड़ी बड़ी कंपनी और कारखाने आदि बड़े से बड़े काम इसी तरह पहले दो-चार दिली दोस्तों की बातचीत से ही शुरू किए गए। उपरांत बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़े कि हजारों मनुष्यों की उनसे जीविका चलने लगी और साल में लाखों की आमदनी होने लगी। पचीस वर्ष के ऊपरवालों की बातचीत अवश्य ही कुछ न कुछ सारगर्भित होगी, अनुभव और दूरंदेशी से खाली न होगी और पचीस से नीचे की बातचीत में यद्यपि अनुभव, दूरदर्शिता और गौरव नहीं पाया जाता पर इसमें एक प्रकार का ऐसा दिलबहलाव और ताजगी रहती है जिसको मिठास उससे दस-गुना चढ़ी-बढ़ी है।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे फरीक के होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी

दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमी जाकर दूसरे के कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिसमें कभी कभी रसाभास होते देर नहीं लगती, क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारें उनकी पूरी दिल-जोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमी उनके यहाँ गए तो पहले तो बिना बुलाए जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इस-लिये सबसे उत्तम प्रकार बातचीत करने का हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नए नए रंग दिखाया करती है, वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आईना है, जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इसी सैर का नाम ध्यान या मनोयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक-दो दिन का काम नहीं, बरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो मानों

अहो भाग्य। एक वाक्शक्ति मात्र के दमन से न जाने कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी के समान सदा स्वच्छन्द चला करती है, उसे यदि हमने दबाकर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिये अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन यावत् साधनों का मूल है, शांति का परम पूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

—बालकृष्ण भट्ट

———

(३) एक दुराशा

नारंगी के रस में जाफरानी वसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनंद ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकंदें भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूल-अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गए थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कन-रसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।

"चलो चलो आज खेलैं होली, कन्हैया घर।" कमरे से निकलकर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसंत में सावन देखकर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था, न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, वसंत के

विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है जिसने वसंत में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। ओह! कैसा ऋतु-विपर्यय है।

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली-खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलेंगे। कन्हैया कौन? व्रज के राजकुमार। और खेलनेवाले कौन? उनकी प्रजा—ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशंभु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिलकर आनंद मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनंद को किसी समय अपना आनंद समझते थे? यदि आज शिवशंभु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर गुलाल की झोलियाँ भरे, रंग की पिच-कारियाँ लिए, अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिव-शंभु ने देखा, न राजा ने शिवशंभु को! खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका में ही हैं पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर व्रजवासियों को संतोष देने के लिये व्रज में भेजा है। क्या उस राजप्रतिनिधि के

घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ। यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है? वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि वसंत में वर्षा की झड़ी लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिए? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है धूप नहीं। चंद्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिवशंभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती! जहाँगीर की तरह उन्होंने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घंटा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरियाद उन्हें सुना सके। उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीय के चंद्र की भाँति कभीकभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चंद्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं। किंतु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचंद्र के उदय के लिये कोई समय भी नियत नहीं।

इन विचारों ने इतनी बात तो शिवशंभु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशंभु अपने प्रभु

तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशावाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।

—बालमुकुंद गुप्त

——

(४) बीज की बात

"जब किसान अपने खेत का झाड़-झंखाड़ बटोरकर खाद के गढ़े में फेंकने लगा, तो मैं भी उन्हीं में की एक पतली सी टहनी से चिपटकर उसी गढ़े में जा पड़ा और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

"कृषक दिन भर का परिश्रम करके आनंद से गाता हुआ घर लौटा। उसे केवल परिश्रम का ही आनंद न था, उसने आज ढेर की ढेर खाद का सामान भी जुटा लिया था। निःसंदेह अगले साल फसल दूनी होगी। यही नहीं, उसने अपनी खेती के शत्रु—हमारे स्वयंरुह वनस्पति-वंश—का भी समूल नाश कर डाला था। परंतु उसे मेरे अस्तित्व का पता न था।

"खलिहान समाप्त हुआ। गरमी आई। ऋण, व्याज और देन-पोत के भार से लदे हुए कृषक अपने पेट काटकर बनियों के हाथ अनाज बेचने लगे और उसके मोल में से वे अपने रक्त चूसनेवाले भू-स्वामि पितरों का तर्पण करें करें कि लग्न के दिन आ पहुँचे और उस धन का बहुत बड़ा अंश वैवाहिक अग्नि में हवन हो गया। खेतिहर अपने आमोद में मग्न थे—'चरै हरित तृन बलि-पसु जैसे'।

भूमिपाल का जो वज्र अभी उन पर घहरानेवाला था, जम की जकात जो खूब जोरों से वसूल की जा रही थी उसकी ओर उनका ध्यान भी न था। और कहाँ तक! जब यह नित्य का भाग्य ठहरा तो कब तक कोई हाय हाय करे। अच्छा है जो बिचारे इतनी हँसी-खुशी तो मना लेते हैं।

"हाँ, तो खेतिहर अपने आमोद में उलझे हुए थे और उन पर दैवी एवं मानुषी आपत्तियों के मेघ मँडरा रहे थे। मैं उसी गढ़े में से उझक उझक यह लीला देखकर इस प्रति-हिंसा वृत्ति से प्रसन्न हो रहा था कि तुम हमारे कृतांत हो, तो तुम्हारे वे हैं।

"धीरे धीरे लू के सर्राटे बढ़ने लगे और सारा संसार एक जलता हुआ आवाँ हो उठा। ऐसे ही समय में मैं, एक जीरे से भी नन्हा और दुबला-पतला सीकिया-जवान मैं, जलती हुई हवा की वड़वा पर सवार होकर अपना कर्मक्षेत्र खोजने निकल पड़ा।

"हवा पर सवार, अपनी धुन में मस्त, प्रतिहिंसा का बीज-मंत्र मैं, आतशबाजी के बान की तरह सपाटे से चला जा रहा था कि मुझे एक ठिकाना दिखाई दिया और मैंने एक कलामंडी ली तथा उसमें पहुँचकर छिप बैठा।

"दो खेतों के बीच एक ऊँची सी मेड़ थी। बात यह थी कि दोनों खेतवालों में आपस में मेल न था। इसी लिये उन्होंने, अपनी खुशी से नहीं, अपनी इच्छाओं को एक तीसरे

के पास बंधक रखकर यह मेड़ बनवा दी थी। उसी विरोध के देहरे में मैं, उनके सर्वनाश के देवता की तरह, एक छोटे से छिद्र में स्थापित हो गया और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। क्योंकि उनकी जड़ उखाड़ने के लिये मुझे अपनी जड़ जमानी थी। लू के झटके ने अपने गर्म ओठों से मुझे चूमा और न जाने कहाँ चला गया। उसकी गर्मी मेरी नस नस में दौड़ गई। प्रतिहिंसा के लिये मेरा खून उबलने लगा।

"एक दिन आकाश में घटा घिर आई। बूँदें पड़ने लगीं। पृथ्वी ने एक सोंधी उसास ली और प्रकृति-बाजीगरनी के भानुमती-के-पिटारे, हम बीज अपना इंद्रजाल पसारने लगे। दो ही चार दिन में अंकुरित होकर खल्वाट पृथ्वी को हमने गहरी हरी कुंतल-राशि से आच्छादित करना शुरू किया।

"मैं भी पनपने लगा। मेरी दृढ़ता देखकर अंतरिक्ष मुझे पयोदान करने लगा। मनुष्य की जलती हुई आँखें ठंडी हुईं। किंतु किसानों को वह हरियाली अंगारे की तरह मालूम होने लगी जिसे वे अपने उपयोग में न ला सकते हों। वे धीरे धीरे हमारी सफाई करने लगे।

"परंतु मेरा भाग्य मेरे भाई-बंदों से भिन्न था। मैं ऐसी जगह जमा था जहाँ की परवाह मेरे दोनों ओर के ही कृषकों को न थी। वह मेड़ था,—उन लोगों के परतंत्र अधिकारों की बेड़ी। उसकी ओर हाथ बढ़ाने की उनकी मजाल न थी; जहाँ मनुष्य की शक्ति काम नहीं करती, वहाँ वह उदासीनता

के बल पर विजय पाने की आशा करता है। किंतु उदासीनता से ही दूसरों का काम बनता है।

"इस भाँति पूर्ण स्वतंत्रता से मैं अपने उत्साह की तरह बढ़ने लगा। पूरवा हवा के झँकोरों पर पेंगें मारने लगा; आनंद-गान गाने लगा और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा, जब मैं एक से अनेक होकर मनुष्य की संहारैषणा पर पानी फेर दूँ।

"किंतु, मनुष्य के भूमि-अधिकारों के आगे पशुओं ने सिर नहीं झुकाया है। मनुष्य की राजनीति, राष्ट्र-विभाजन, भूमि-क्षेत्र पशुओं के लिये मान्य नहीं। चाहे मनुष्य दिन-रात उन्हें जोतता रहे पर वे पृथ्वी पर अपने स्वाभाविक जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित होने के लिये प्रस्तुत नहीं। राजप्रासादों के प्रचंड प्रहरी कीट-पतंगों के आक्रमण और अधिकार से उसकी रखवाली नहीं कर सकते।

"सो, उन किसानों के बैलों ने मुझे कवलित कर जाना चाहा। एक ने मुझ पर मुँह भी चलाया; किंतु हमारी आत्मरक्षा की कामना ने लाखों ही बरस पहले से इसका प्रतिकार कर रखा था। हमने अपनी नसों में एक ऐसा उग्र गंध पैदा कर लिया था कि कोई पशु हमें मुँह में ले ही न सकता था। हमारी यह परंपरागत प्रतिक्रिया उस क्षण मेरे काम आई और उस बैल ने अपने नथने फुफकारते हुए मेरी ओर से मुँह फेर लिया।

"परंतु इसी प्रसंग में, न जाने क्रुद्ध होकर या अकस्मात् उसने मुझे कुचल दिया और मेरा कोमल हरा शिशु शरीर छिन्न-भिन्न हो उठा। उस समय मुझे जो पीड़ा हुई, उसका अनुभव शायद दलित मानवता को हो तो हो। जो हो, उससे मेरा एक लाभ हुआ, मेरी बहिर्मुख शक्ति अंतर्मुख हो उठी और मेरी सारी पनपने और बढ़ने की शक्ति मेरी जड़ों में समाकर उन्हें पुष्ट और गहरी बनाने लगी। इस प्रकार जब कुछ दिनों में उस शक्ति ने मेरी नींव बिलकुल अचल कर ली, तो उसका ध्यान मेरी ऊपरी बाढ़ की ओर गया और हेमंत के धुँधले प्रभात में मैं गहगहाकर पनप उठा।

"किसान अपने काम में लगे थे। उनकी फसल उनकी सेवा से बाढ़ ले रही थी और मैं 'राम भरोसे जो रहैं जंगल में हरियायँ' के अनुसार अपने सुयोग के लिये सन्नद्ध हो रहा था।

"धीरे धीरे शिशिर ने अपना राज्य फैलाया और वह अत्याचार किया कि किसानों के सारे किए-कराए पर तुषारपात हो गया। किंतु मैं अपनी मौज में कलिया रहा था।

"जब वसंत आया, तो मैंने उसे अपने छोटे छोटे कासनी फूलों की भेंट दी। और उसने मेरी भीनी भीनी महक को अपने पवन द्वारा इधर-उधर वितरित करा दिया। अपनी इस कीर्त्ति से मुझे उतनी प्रसन्नता न हुई, जितनी उस वसंत के संगीत से,

जिसके प्रत्येक स्वर में मुझे अपनी तपश्चर्या की सिद्धि की मंदध्वनि सुनाई पड़ रही थी।

"कृषक बेचारे दुखी थे। उनकी फसल मारी गई थी। यों ही दाने दाने को मुहताज हो रहे थे; अब तो दाने भी नहीं, वक्कल से भी मुहताज होने की वारी आ गई थी। यद्यपि मुझे उनसे कोई सहानुभूति न थी पर मैं उनके दुःख से दुखी जरूर था। और यदि वे मेरी भाषा समझ सकते तो मैं उन्हें अवश्य अपने हृदय की वेदना कह सुनाता।

"अन्य पार्थिवों के साथ पारस्परिक व्यवहार पर मैं उन्हें एक उपदेश भी दिया चाहता था। पर दुर्भाग्य कि हमारी भाषाएँ भिन्न थीं। जो हो; मैं इन विचारों में मग्न ही था कि बसंत बीत चला और ग्रीष्म के आगमन के साथ मेरे फूलों की पँखड़ियाँ भी बीजों में परिणत हो उठीं।

"चैती बयार बह रही थी और मारे प्रसन्नता के मेरी छाती फूली जा रही थी। मेरे असंख्य बीज अपने उस मुरझाते हुए पुष्प-कोष में रहने के लिये तैयार न थे। मैंने भी कहा—ठीक है, 'एकोऽहं बहु स्याम्' की सिद्धि हो ही चुकी। अब तुम देर न करो, नहीं तो कहीं फिर खाद के गढ़े में पहुँच गए तो न जाने कहाँ के कहाँ हो जाओगे और यह तैयार सेना कम से कम एक साल के लिये तितर-बितर हो जायगी। अतएव इसी क्षण तुम सब यहाँ फैल जाओ और इस कृषि-समृद्धि के तहस-नहस के लिये अभी से मोर्चाबंदी कर लो।

"ठीक इसी समय पवन के एक झोंके ने आकर उन्हें बखेर ही नहीं दिया प्रत्युत उन्हीं उन्हीं स्थानों पर ले जाकर स्थापित भी कर दिया जहाँ से उनमें का एक भी नष्ट न हो सके।

"सच है—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्त्तन्ते तत्र देवस्सहायकृत्॥"

—राय कृष्णदास

---

(५) वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं हैं। यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सम्मान करें और इनके थोड़े से बचे-खुचे जीवन को गनीमत जानें; क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो तथापि संसार के ऊँच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है, इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिये माननीय है। यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरंच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना पड़ता है पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ बाबा फिर क्या हुआ? हाँ बाबा ऐसा हो तो कैसा हो? बस बाबा साहब अपन जीवन भर का आंतरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिये उचित है कि हम क्या हैं हमारे पूज्य पिता दाता ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें तो किसकी कलई नहीं खोल सकते? जिसके नाम पर गट्टा

सी नहीं सुना सकते? इन्हें संकोच किसका है? बकी के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रखे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाए हुए हैं तब इनका कोई कर क्या सकता है? यदि इनकी बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या? यह तनिक सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायँगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े से बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति अनिष्टकारक होगा। जब कि महात्मा कबीर के कथनानुसार मरी खाल को हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तब इनकी पानी-भरी खाल की हाय कैसा कुछ अमंगल नहीं कर सके! इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें; क्योंकि समस्त धर्मग्रंथों में इनका आदर करना लिखा है, सारे राजनियमों में इनके लिये पूर्ण दंड की विधि नहीं है। और सोच देखिए तो यह दया-पात्र जीव हैं क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इससे आँय-बाँय-शाँय किया करते हैं, या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं। इसके सिवा किसी का कुछ बिगाड़ते नहीं हैं। हाँ, इस दशा में दुनिया के झंझट छोड़के भगवान् का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिये झूठी हाय हाय में कुढ़ते-कुढ़ाते रहते हैं। यह बुरा है। पर इसके लिये क्यों इनकी निंदा की जाय? आज-कल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों

के मारे कुछ नहीं होने पाता, वे अपनी पुरानी अकिल के कारण प्रत्येक देश-हितकारक नव-विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं। हमारी समझ में यह कहनेवालों की भूल है, नहीं तो सब लोग एक से ही नहीं होते। यदि हिकमत के साथ राह पर लाए जायँ तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं। वे पहले हईं कै जने? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलक्षण किसी से छिपे हों। फिर उनका क्या डर है? चार दिन के पाहुन कछुआ, मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खाके आए हैं नहीं, कौवे के बच्चे हईं नहीं, बहुत जिएँगे दस वर्ष। इतने दिन में मर-पच के दुनिया भर का पीकदान बन के दस लोगों के तलवे चाटके अपने स्वार्थ के लिये पराए हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी; सो भी जब देश भाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है। फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें! जब थोड़ी सी घातों की जिंदगी के लिये वे अपना बेढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी बृहज्जीवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें! हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी शुश्रूषा करते रहें, क्योंकि भले हों वा बुरे पर हैं हमारे ही। अतः हमें चाहिए कि

अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथवा ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बंधुवात्सल्य की सभ्यता का निश्चय कराते रहें। सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो। अगले दिनों के ऋषियों की भाँति विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भाँति 'आपन पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी वयोवृद्ध के नाते बाबा ही हो, पर इतना स्मरण रखो कि अब जमाने की चाल वह नहीं रही जो तुम्हारी जवानी में थी। इससे उत्तम यह है कि इस वाक्य को गाँठी बाँधो कि चाल वह चल कि 'पसेमर्ग' मुझे याद करें। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे—नहीं तो परलोक में वैकुंठ पाने पर भी उसे थूक थूक के नरक बना लोगे, इस लोक का तो कहना ही क्या है। अभी थूक-खखार देख कुटुंबवाले घृणा करते हैं, यदि वर्त्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत् सदा थुड़् थुड़् करेगा! यों तो मनुष्य की देह ही क्या है, जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनानेवाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाते हैं, नहीं तो निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है, तिस पर भी उस अवस्था में जब कि—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः
समानाः स्वर्याताः सदपि सुहृदो जीवितसमाः।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धेपि नयने
अहो दुष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः॥

यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं राह चलनेवाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि—'कहा धन धामै धरि लेहुगे सरा मैं भए जीरन तऊ रामै न भजत हो'—यदि समझ जाओगे तो अपना लोक-परलोक बनाओगे, दूसरों के लिये उदाहरण काम में लाओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनीवाली किए देते हैं, तुम्हीं अपने किए का फल पाओगे। लोग कहते हैं कि बारह बरसवाले को वैद्य क्या है, तुम तो परमात्मा की दया से पँचगुने छगुने दिन भुगता बैठे हो, तुम्हें तो चाहिए कि दूसरों को समझाओ; पर यदि स्वयं कर्त्तव्याकर्त्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहें हमारी समझ को धिक्कार है जो ऐसे वाक्यरत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करती है।

—प्रतापनारायण मिश्र

—

(६) "इत्यादि" की आत्मकहानी

"शब्द-समाज" में मेरा सम्मान कुछ कम नहीं है। मेरा इतना आदर है कि वक्ता और लेखक लोग मुझे जबरदस्ती घसीट ले जाते हैं। दिन भर में, मेरे पास न जाने कितने बुलावे आते हैं। सभा-सोसायटियों में जाते-जाते मुझे नींद भर सोने की भी छुट्टी नहीं मिलती। यदि मैं बिना बुलाए भी कहीं जा पहुँचता हूँ तो भी सम्मान के साथ स्थान पाता हूँ। सच पूछिए तो "शब्द-समाज" में यदि मैं, "इत्यादि", न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। पर हा! इतना सम्मान पाने पर भी किसी ने आज तक मेरे जीवन की कहानी नहीं कही। संसार में जो जरा भी काम करता है उसके लिये लेखक लोग खूब नमक-मिर्च लगाकर पोथे के पोथे रँग डालते हैं; पर मेरे लिए एक सतर भी किसी की लेखनी से आज तक नहीं निकली। पाठक, इसमें एक भेद है।

यदि लेखक लोग सर्व-साधारण पर मेरे गुण प्रकाशित करते तो उनकी योग्यता की कलई जरूर खुल जाती; क्योंकि उनकी शब्द-दरिद्रता की दशा में मैं ही उनका एक मात्र अवलंब हूँ। अच्छा, तो आज मैं चारों ओर से निराश होकर आप ही अपनी कहानी कहने और गुणावली गाने बैठा हूँ। पाठक,

आप मुझे "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनने का दोष न लगावें। मैं इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

अपने जन्म का सन्-संवत्-मिती-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय "शब्द का महा अकाल" पड़ा था उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम "इति" और पिता का "आदि" है। मेरी माता अविकृत "अव्यय" घराने की है। मेरे लिये यह थोड़े गौरव की बात नहीं है; क्योंकि भगवान् फणींद्र की कृपा से "अव्यय" वंशवाले, प्रतापी महाराज "प्रत्यय" के कभी अधीन नहीं हुई। वे सदा स्वाधीनता से विचरते आए हैं।

मैं जब लड़का था तब मेरे मा-बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा; अपने समाज में यह सबका प्यारा बनेगा; पर दोष है तो इतना ही कि यह कुँवारा ही रहेगा। विवाह न होने से इसके बाल-बच्चे न होंगे। यह सुनकर मा-बाप के मन में पहले तो थोड़ा दुःख हुआ; पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था। इसलिये सोच छोड़कर उन्हें संतोष करना पड़ा। उन दोनों ने, अपना नाम चिरस्मरणीय करने के लिये, (मुझसे ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रखा। अपने ही नामों को मिलाकर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं "इत्यादि" कहलाया।

पुराने जमाने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह कि यह तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहचान थी; दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धि-भांडार में शब्दों की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे जैसे शब्द-दारिद्रय बढ़ता गया, वैसे वैसे मेरा सम्मान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिए। आजकल मैं ही मैं हूँ। मेरे समान सम्मानवाला इस समय मेरे समाज में कदाचित् विरला ही कोई ठहरेगा। आदर की मात्रा के साथ मेरे नाम की संख्या भी बढ़ चली है। आजकल मेरे अनेक नाम हैं—भिन्न भिन्न भाषाओं के "शब्द-समाज" में मेरे नाम भी भिंन्न भिन्न हैं। मेरा पहनावा भी भिन्न भिन्न है—जैसा देश वैसा ही भेस बनाकर मैं सर्वत्र विचरता हूँ। आप तो जानते ही होंगे कि सर्वेश्वर ने हम "शब्दों" को सर्वव्यापक बनाया है। इसी से मैं, एक ही समय, अनेक ठौर काम करता हूँ। इस घड़ी बिलायत की पार्लियामेंट महासभा में डटा हूँ; और इसी घड़ी भारत की पंडित-मंडली में भी विराजमान हूँ। जहाँ देखिए वहीं मैं परोप-कार के लिये उपस्थित हूँ।

मुझमें यह एक भारी गुण है, कि क्या राजा, क्या रंक, क्या पंडित, क्या मूर्ख, किसी के घर जाने-आने में मैं संकोच नहीं करता; और अपनी मानहानि नहीं समझता। अन्य "शब्दों" में यह गुण नहीं। वे बुलाने पर भी कहीं जाने-आने में बड़ा गर्व करते हैं; बहुत आदर चाहते हैं। जाने

पर सम्मान का स्थान न पाने से रूठकर उठ भागते ह। मुझमें यह बात नहीं है। इसी से मैं सबका प्यारा हूँ।

परोपकार और दूसरे की मान-रक्षा तो मानों मेरा धंधा ही है। यह किए विना मुझे एक पल भी कल नहीं पड़ती। संसार में ऐसा कौन है जिसके, अवसर पड़ने पर, मैं काम नहीं आता? निर्धन लोग जैसे भाड़े पर कपड़ा-लत्ता पहनकर बड़े बड़े समाजों में बड़ाई पाते हैं, कोई उन्हें निर्धन नहीं समझता, वैसे ही मैं भी छोटे छोटे वक्ताओं और लेखकों की दरिद्रता झट-पट दूर कर देता हूँ। अब दो-एक दृष्टांत लीजिए।

वक्ता महाशय वक्तृता देने को उठ खड़े हुए हैं। अपनी पंडिताई दिखाने के लिये सब शास्त्रों की बात थोड़ी-बहुत कहना चाहिए। पर शास्त्र का जानना तो अलग रहा, उन्हें किसी शास्त्र का पन्ना भी उलटने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इधर-उधर से सुनकर दो-एक शास्त्रों और शास्त्रकारों का नाम भर जान लिया है। कहने को तो खड़े हुए हैं, पर कहें क्या? अब लगे चिंता के समुद्र में डूबने उतराने; और मुँह पर रूमाल दिए खाँसते-खूँसते इधर-उधर ताकने। दो-चार बूँद पानी भी उनके मुखमंडल पर झलकने लगा। जो मुख-कमल पहले उत्साह-सूर्य की किरणों से खिल उठा था, अब ग्लानि और संकोच का पाला पड़ने से मुरझाने लगा। उनकी ऐसी दशा देख मेरा हृदय दया से उमड़ आया। उस समय मैं, बिना बुलाए, उनकी सहायता के लिये जा खड़ा हुआ, और मैंने

उनके कानों में चुपके से कहा—"महाशय, कुछ परवा नहीं, आपकी मदद के लिये मैं हूँ। आपके जी में जो आवे आरंभ कीजिए; फिर तो मैं सब कुछ निबाह लूँगा।" मेरे ढाढ़स बँधाने पर बेचारे वक्ताजी के जी में जी आया। उनका मन फिर ज्यों का त्यों हरा-भरा हो उठा। थोड़ी देर के लिये जो उनके मुखड़े के आकाश-मंडल में चिंता-चिह्न का बादल देख पड़ा था, वह मेरे ढाढ़स के झकोरे से एकबारगी फट गया; और उत्साह का सूर्य फिर निकल आया। अब लगे वे यों वक्तृता झाड़ने—"महाशयो, मनु इत्यादि धर्म्मशास्त्रकार, व्यास इत्यादि पुराणकार, कपिल इत्यादि दर्शनकारों ने कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद इत्यादि जिन जिन दार्शनिक-तत्त्व-रत्नों को भारत के भांडार में भरा है उन्हें देखकर मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य पंडित लोग बड़े अचंभे में आकर चुप हो जाते हैं। इत्यादि इत्यादि।"

यहाँ इतना कहने की जरूरत नहीं कि वक्ता महाशय धर्म-शास्त्रकारों में केवल मनु, पुराणकारों में केवल व्यास, दर्शनकारों में केवल कपिल का नाम भर जानते हैं; और उन्होंने कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद का नाम भर सुन लिया है। पर देखिए मैंने उनकी दरिद्रता दूर कर उन्हें ऊपर से कैसा पहनावा पहनाया कि भीतर के फटे-पुराने और मैले चीथड़े को किसी ने नहीं देखा।

और सुनिए—किसी समालोचक महाशय का किसी ग्रंथ-कार के साथ बहुत दिनों से मनमुटाव चला आता है। जब ग्रंथकार की कोई पुस्तक समालोचना के लिये समालोचक

साहब के आगे आई, तब वे बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि यह दाँव तो वे बहुत दिनों से ढूँढ़ रहे थे। पुस्तक को बहुत कुछ ध्यान देकर, उलटकर, उन्होंने देखा। कहीं किसी प्रकार का विशेष दोष पुस्तक में उन्हें न मिला। दो-एक साधारण छापे की भूलें निकलीं। पर इससे तो सर्वसाधारण की तृप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में बेचारे समालोचक महाशय के मन में मैं याद आ गया। वे झटपट मेरी शरण आए। फिर क्या है? पौ बारह! उन्होंने उस पुस्तक की यों समालोचना कर डाली—पुस्तक में जितने दोष हैं, उन सभों को दिखाकर, हम ग्रंथकार की अयोग्यता का परिचय देना तथा अपने पत्र का स्थान भरना, और पाठकों का समय खोना, नहीं चाहते। पर दो-एक साधारण दोष हम दिखा देते हैं; जैसे, इत्यादि इत्यादि।

पाठक, देखा! समालोचक साहब का इस समय मैंने कितना बड़ा काम किया। यदि यह अवसर उनके हाथ से निकल जाता तो वे अपने मनमुटाव का बदला क्योंकर लेते? यह तो हुई बुरी समालोचना की बात। यदि भली समालोचना करने का काम पड़े, तो मेरे ही सहारे वे बुरी पुस्तक की भी ऐसी समालोचना भी कर डालते हैं, कि वह पुस्तक सर्वसाधारण की आँखों में भली भासने लगती है और उसकी माँग चारों ओर से आने लगती है।

कहाँ तक कहूँ। मैं मूर्ख को पंडित बनाता हूँ। जिसे युक्ति नहीं सूझती उसे युक्ति सुझाता हूँ। लेखक को यदि भाव प्रकाशित

करने को भाषा नहीं जुटती तो भाषा जुटाता हूँ। कवि को जब उपमा नहीं मिलती, उपमा बताता हूँ। सच पूछिए, तो मेरे पहुँचते ही अधूरा विषय भी पूरा हो जाता है। बस, क्या इतने से मेरी महिमा प्रगट नहीं होती ?

—यशोदानंदन अखौरी

— —

(७) मिलन

(१)

राधाकांत मुकर्जी के उद्योग से ब्राह्म-महाविद्यालय जब से खुला है तब से कानपुर के बालक और बालिकाएँ उसमें एक ही साथ पढ़ने का स्वर्गीय आनंद पाने लगे हैं। बालिकाओं और बालकों का प्रेम भी कैसा निर्मल है। उसमें स्वार्थ की गंध भी नहीं; इंद्रिय-संभोग-जन्य सुख का लेश भी नहीं। वह निर्मल प्रेम है; वह शुद्ध प्रेम है। उसमें प्रेम के सिवा और कुछ नहीं। पर, अभागे भारत के विद्यार्थियों के जीवन में तो वह प्रेम बदा ही नहीं। इसी लिये वे बड़े होने पर शुद्ध प्रेम से वंचित रह जाते हैं। वे शुद्ध प्रेम का अनुमान ही नहीं कर सकते। यह बड़े ही संताप की बात है।

पूर्वोक्त महाविद्यालय में कोई तीस लड़के और इतनी ही लड़कियाँ हैं। सबकी उम्र दस साल के अंदर है। उन्हीं में एक लड़का रामानंद है। वह गजब का तेज है। किताब रटते कभी किसी ने उसे नहीं देखा। पर परीक्षा-फल सुनाने के दिन सबसे पहले उसी का नाम सब सुना करते हैं। रामानंद और मोहिनी, जो पंडित देवधर इंजीनियर की एकमात्र लड़की है, साथ साथ पढ़ने आया करते और साथ ही साथ जाया करते हैं। दोनों एक ही क्लास में हैं। अपने क्लास

में रामानंद प्रथम और मोहिनी सदा द्वितीय रहा करती है। इस समय इनकी अवस्था कोई दस वर्ष की है। रामानंद गरीब बाप का लड़का है। यद्यपि उसके शरीर पर रेशम के कपड़े और पाँव में डासन के जूते किसी ने नहीं देखे, पर उसका गबरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता कभी मैला और टूटा हुआ भी नहीं देखा गया। रामानंद के पिता बहुत ईमानदार हैं। कमसरियट में नौकर हैं। अपने एकमात्र पुत्र रामानंद की बुद्धि-प्रखरता और संयमशीलता देखकर वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया करते हैं और अपने भविष्य का चमकीला भाग्य ध्यान में ला लाकर बहुत सुखी हुआ करते हैं।

तीन वर्ष गुजर गए। जून का महीना है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा के फल का इंतजार हो रहा है। विद्यालय बंद है। छात्रालय में रहनेवाले विद्यार्थी अपने अपने घर चले गए हैं। पर जो जहाँ है, गजट की प्रतीक्षा में है। रामानंद और मोहिनी ने भी प्रवेशिका परीक्षा दी है। पर इन दोनों को, परीक्षा-फल जानने के लिये, कभी किसी ने विशेष व्यग्र नहीं देखा। रामानंद रोज शाम को मोहिनी के बँगले पर जाया करता है और उसके साथ मिलकर काव्यालोचना और साहित्य-चर्चा किया करता है। रामानंद शहर में रहता है। मोहिनी के पिता १२००) मासिक तनख्वाह पाते हैं। इसलिये वे बड़े ठाट से

शहर के बाहर एक बहुत ही बढ़िया बँगले में रहते हैं। मोहिनी कभी कभी अपनी पैरगाड़ी पर रामानंद के घर आया करती है। पर उसका आना नैमित्तिक है और रामानंद का जाना नैत्यिक।

११ जून को तीसरे पहर रामानंद अपने कमरे में बैठा हुआ खड़ी बोली की एक कविता पढ़ रहा था कि इतने में पैरगाड़ी की घंटी की आवाज उसके कानों में पड़ी। रामानंद का मकान लबे-सड़क था। सुबह से शाम तक सैकड़ों पैर-गाड़ियाँ उस सड़क से निकला करती थीं। उनकी घंटियों की टनटनाहट से वह कभी कभी बहुत तंग आ जाता था। पर, आज की घंटी की आवाज उसको अपनी हृदय-तंत्री की आवाज के साथ कुछ ऐसी मिली हुई मालूम हुई कि उसका चित्त एकदम उस मृदु-मधुर टनटनाहट की ओर खिंच गया। इस बात को लिखने में और पाठकों के पढ़ने में जरूर दो-चार सेकंड लगेंगे, पर, मानसिक जगत् में यह व्यापार सेकंड के कितने हजारवें हिस्से में घटित हो गया, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जब रामानंद ने देखा कि वह पैरगाड़ी उसी के द्वार पर रुक गई तब उसकी उत्कंठा और भी बढ़ गई। आवाज से उसने पहचान लिया कि यह सिवा मोहिनी के और कोई नहीं। इतने में मोहिनी उसके कमरे में आ गई।

"मोहिनी, कुशल तो है? इस समय क्यों कष्ट किया?"

"रामी, बड़ा ही शुभ समाचार सुनाने आई हूँ। पर इसका मिहनताना क्या दोगे? पहले यह बताओ तो सुनाऊँ।"

"मोहिनी, मिहनताने में मुझ गरीब के पास है ही क्या, जो तुम लक्ष्मी-स्वरूपिणी को भेंट करूँ? यह शरीर और यह मन भी मेरा—"

बात समाप्त न हुई थी कि मोहिनी ने तार का एक लिफाफा रामानंद के हाथ में दे दिया और स्त्री-जन-सुलभ मुसकराहट के साथ कहा—"अच्छा न सही, लो इसे पढ़ो।"

रामानंद तार को लिफाफे से निकालकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

Allahabad.

Ramanand and Mohini stood first and second in Matriculation. My best congratulations.

Radha Krishna

तार पढ़कर रामानंद ने कहा—आपको बधाई है।

मोहिनी ने हँसते हुए जवाब दिया—और आपको भी।

इसके बाद देर तक वे दोनों अपनी कालेज-शिक्षा के विषय में बातचीत करते रहे।

(२)

"मेरे मन कछु और है कर्त्ता के कछु और।"

रामानंद और मोहिनी कालेज में एक साथ पढ़ने के स्वप्न देख रहे थे कि इतने ही में रामानंद के पिता को बंगाल जाने

के लिये जरूरी हुक्म मिला। रामानंद को छोड़कर पंडित शिवानंद जाना पसंद न करते थे। वे पढ़ने के लिये भी संतान को आँख से ओझल न करने के हिंदुस्तानी मोह में बेतरह जकड़े हुए थे। रामानंद ने यह समाचार अपनी बालपन की सह-पाठिनी मोहिनी को सुनाया तो वह अवाक् हो गई। अंत में वे दोनों, जो आज तक मिले हुए थे, जुदा हुए और उनके बीच में सैकड़ों कोस का व्यवधान हो गया। शिवानंदजी कलकत्ते में एक खास काम पर तैनात हुए। वहाँ जाकर उनका भाग्य चमका। छोटी सी ५०) रुपए की तनख्वाह से एकदम उनकी तनख्वाह १५०) मासिक हो गई। रायसाहब का खिताब भी उन्हें मिला। उधर कलकत्ते के एक कालेज में दाखिल होकर रामानंद ने भी अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय होंनहार बंगाली नवयुवकों के साथ बैठकर देना शुरू किया। मोहिनी के पत्र बराबर रामानंद और रामानंद के पत्र बराबर मोहिनी के पास जाया करते थे। पर, न मालूम क्या घटना घटी कि एक दिन शिवानंद अपने प्रिय पुत्र रामानंद के हाथ में मोहिनी के पिता पंडित देवधर का एक पत्र देकर यह कहते हुए चले गए—"बेटा, इसमें जो आज्ञा दी गई है उसका पालन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।"

रामानंद ने पत्र खोला। उसमें लिखा था—"कुछ विशेष कारणों से मैं मोहिनी और रामानंद का पत्र-व्यवहार जारी रखना उचित नहीं समझता। मोहिनी से मैंने मना कर दिया

है कि वह कोई पत्र भैया रामानंद को न लिखे। आप भी कृपा करके रामानंद को आज्ञा दे दीजिए कि वह कोई पत्र भविष्य में मोहिनी को न लिखे। मुझे पूर्ण आशा है कि आपकी आज्ञा को वेदवाक्य समझनेवाला रामानंद आयंदा कोई पत्र उसको न लिखेगा।"

इन पंक्तियों को पढ़कर रामानंद सन्नाटे में आ गया। उसका शरीर चक्कर खाने लगा। वह आरामकुर्सी पर चुपचाप लेट गया।

इस घटना को हुए चार वर्ष गुजर गए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय का परीक्षा-फल अभी अभी प्रकाशित हुआ है। बी० ए० में सबसे पहला नाम रामानंद चतुर्वेदी का है। वाइस-चैंसेलर ने अपनी स्पीच में भी इस होनहार नवयुवक की बड़ी प्रशंसा की है। यह पहला अवसर है कि दूसरे प्रांत का नवयुवक कलकत्ते के विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में पहले नंबर पर पास हुआ है।

रामानंद के बी० ए० होते ही भारत-सरकार ने सिविल सर्विस की तैयारी के लिये उसे यथा-नियम छात्र-वृत्ति दी। पर, शिवानंद नहीं चाहते कि रामानंद जहाज पर पाँव रख कर सामाजिक बंधन छिन्न करे। इस बात का पता जब कमसरियट के बड़े अफसर को लगा तब उसने शिवानंद को बुलाया और उन्हें बहुत समझाया। उसने कहा, इसमें तुम्हें अकारण हठ न करना चाहिए। पुत्र की उन्नति, अफसर का

कहना, यूरप से लौटकर भारत में कलक्टरी मिलने का लोभ— इन सब बातों ने मिलकर शिवानंद के भोले और धर्मभाव-पूर्ण मन पर विजय प्राप्त की।

रामानंद को हिंदी से बड़ा प्रेम था। समय मिलने पर वह हिंदी के उत्तमोत्तम ग्रंथ पढ़ता और समाचार-पत्रों में सबसे पहले हिंदी के अखबार देखा करता था। हिंदी की गरीबी पर वह दुखी था। ज्यों ज्यों वह अन्य भाषाओं के ग्रंथ पढ़ता त्यों त्यों उसके मन में हिंदी की हीनता का संताप अधिक होता जाता। जिस अच्छे ग्रंथ को वह पढ़ता उसका आशय थोड़े में हिंदी में लिखने की उसकी आदत पड़ गई थी। इस तरह लिखते लिखते उसके पास बीसियों कापियाँ भर गई थीं। विलायत जाते समय जरूरी असबाब के साथ हिंदी की कापियों का एक पुलिंदा भी उसने रख लिया। रामानंद को खड़ी बोली की कविता से विशेष प्रेम था। वह स्वयं भी कविता लिखता था। पर, किसी पत्र में अभी तक उसकी एक पंक्ति भी न छपी थी। हाँ, ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का व्यर्थ झगड़ा जब उठा था तब उसने कल्पित नाम देकर अनेक युक्ति-पूर्ण लेख, खड़ी बोली के पक्ष में, लिखे थे। उस समय हिंदी-साहित्य-सेवियों के मन में इस "बार्हस्पत्य" का परिचय पाने की बड़ी लालसा उत्पन्न हुई थी। पर रामानंद ने पहले ही संपादक से इकरार करा लिया था कि किसी तरह भी मैं तुम्हारा नाम न प्रकट करूँगा।

(३)

इँगलैंड की स्वतंत्रता-सूचक वायु के पहले ही झोंके ने रामानंद के मस्तिष्क को देशहित के विचारों से भर दिया। उसने यह बात खूब अच्छी तरह जान ली कि बिना मातृभाषा की उन्नति के देश की यथार्थ उन्नति होना संभव नहीं। अतएव उसने अपने हिंदी के बस्ते को निकाला। फिर उसने विविध विषयों पर पढ़ी हुई अनेक पुस्तकों का सारांश भिन्न भिन्न लेखों की शक्ल में लिखना शुरू किया। रामानंद को दो ही काम थे। आई० सी० एस० (I. C. S.) की पाठ्य पुस्तकें पढ़ना और हिंदी-लेख लिखना। सिर्फ इन दो कामों में लीन रामानंद लंदन में इस तरह रहने लगा जैसे कोई जंगल में रहता हो। थोड़े ही दिनों के परिश्रम से उसने कोई २५ लेख लिखकर तैयार कर लिए। एक दिन उसने उन सबका एक पुलिंदा बनाकर हिंदी की सर्वोत्तम मासिक पत्रिका "वैजयंती" के संपादक के नाम भेज दिया। ये लेख जो क्रमपूर्वक "भ्रमर" के नाम से "वैजयंती" में छपे तो उसके हजारों नए ग्राहक हो गए। घर घर चाव से ये लेख पढ़े जाने लगे। जिन विषयों का गुमान भी हिंदी पाठकों को न था उन शास्त्रीय विषयों पर सुविस्तृत लेख पढ़कर हिंदी-हितैषी "भ्रमर" की विद्वत्ता, योग्यता, सारग्राहिता और लेखन-चातुर्य पर लोग मुग्ध हो गए।

कुछ समय बाद रामानंद ने एक छोटा सा खंड-काव्य लिखा। उसमें उसने एक बड़ी मनोमोहक कहानी, खड़ी

बोली में, पद्य-बद्ध की। जिस समय यह काव्य "वैजयंती" में निकला उस समय हिंदी जगत् में खलबली मच गई। यह काव्य उन दोषों से बिलकुल शून्य था जिनको खड़ी बोली के विरोधी खड़ी बोली के काव्य के लाजिमी दोष कहा करते थे। इस काव्य के प्रत्येक पद्य—प्रत्येक पंक्ति–में प्रेम-रस भरा हुआ था। ऐसा अच्छा काव्य आज तक खड़ी बोली में न निकला था। संस्कृत में कालिदास और जयदेव तथा हिंदी में सूर और तुलसी के काव्यों की तरह लोग इसका पारायण करने लगे। मई की "वैजयंती" में यह काव्य निकला और जून की "वैजयंती" में इसकी समालोचना का निकलना शुरू हो गया। समालोचना के लेखक ने भी अपना नाम न दिया था। लेख के अंत में "कमल" लिखा हुआ था। जब जून की "वैजयंती" कहीं जुलाई में लंदन पहुँची और रामानंद ने अपने काव्य पर सुविस्तृत और सारपूर्ण समालोचना पढ़ी तब वह दंग रह गया। उसने देखा कि उसके काव्य के भीतरी से भीतरी और बारीक से बारीक गुण-दोषों का बहुत ही अच्छा विवेचन समालोचना में किया गया है। उसने देखा कि समालोचना की भाषा बड़ी प्रौढ़, उसका शब्द-विन्यास बड़ा सुन्दर और उसकी आक्षेपोक्तियाँ बड़ी रसीली हैं। इन बातों ने रामानंद के मन में समालोचक के विषय में बड़ी श्रद्धा पैदा कर दी। उसने बड़ी कृतज्ञता से सिर झुकाकर ईश्वर का धन्यवाद किया। उसने कहा, ईश्वर ही

की कृपा से हिंदी-जगत् में भी ऐसे अच्छे समालोचक पैदा होने लगे। आज से रामानंद बड़ी व्यग्रता से "वैजयंती" की प्रतीक्षा करने लगा, क्योंकि उसके उक्त अंक में समालोचना का सिर्फ प्रारंभिक अंश ही छपा था।

(४)

पंडित शिवानंद के आनंद की सीमा नहीं। आज उनके पास सेक्रेटरी आफ स्टेट का तार लंदन से आया है। उसमें उन्होंने रामानंद के सिविल सर्विस परीक्षा में सर्वोच्च स्थान पाने की बधाई दी है। इसके दूसरे ही दिन भारतवर्ष के कुल दैनिक पत्रों में रामानंद की प्रशंसा में टिप्पणियाँ निकल गईं। इसके बाद शीघ्र ही दैनिक पत्रों में रूटर का तार छपा कि इस वर्ष सिविल सर्विस परीक्षा में उत्तीर्ण पहले चार छात्र कहाँ कहाँ नियुक्त होंगे। रामानंद इलाहाबाद में नियुक्त हुए।

"वैजयंती"-संपादक पंडित भुजंगभूषण भट्टाचार्य्य बड़े योग्य पुरुष हैं। साहित्य, इतिहास और दर्शन की तो आप मानों मूर्त्ति हैं। वे बड़े सरल भी हैं। देश भर में आपकी बड़ी ख्याति है। "वैजयंती" प्रयाग से प्रकाशित होती है। भट्टाचार्य्य महाशय का दफ्तर शहर के बाहर एक बाग में है। वह एकांत स्थान है। वहीं बैठकर भट्टाचार्य्य महाशय साहित्यालोचना किया करते हैं। बाग में एक छोटी सी कोठी है।

इसी कोठी के सम्मुख भाग में भट्टाचार्य्य महाशय का कमरा है। वे आरामकुर्सी पर लेटे हुए आज का दैनिक पत्र पढ़ रहे हैं। कमरे में एक ओर संपादक की मेज है। उस पर करीने से अनेक पत्र, पत्रिकाएँ और समालोचनार्थ आए हुए ग्रंथ रखे हैं। एक ओर लिखने का सामान है। बिल्लौरी दावातों पर स्याही की एक बूँद भी नहीं पड़ी। होल्डरों की निबें निहायत साफ़ हैं। बेदाग ब्लाटिंग पेपर (सोख्ता कागज) पास ही रखा हुआ है। इन चीजों को देखकर मालूम होता है कि यह सामान रोज बदला और साफ किया जाता है। दूसरी ओर पेंसिलें और चाकू आदि हैं। कई तरह की पेंसिलें और दो चाकू रखे हुए हैं। बीच में विजिटिंग कार्ड्स रखने के लिये एक निहायत खूबसूरत रकाबी है। बिजली की घंटी का डोरा मेज के एक कोने में बँधा हुआ है। तारीख-सूचक कैलेंडर घड़ी के नीचे लटक रहा है। उसी के पास भगवती सरस्वती का एक तैल-चित्र टँगा है। भट्टाचार्य्य महाशय ध्यानावस्थित हो अखबार पढ़ रहे हैं। इतने में कमरे का द्वार खुला और चपरासी एक कार्ड लाया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्यजी झटपट बाहर गए और कुछ क्षण के बाद ही मिस्टर रामानंद का हाथ पकड़े हुए कमरे में वापिस आए।

हँसते हुए भट्टाचार्य्यजी ने कहा—आज आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।

रामानंद ने बड़ी शिष्टता से उत्तर दिया—धन्यवाद, कई दिनों से इधर आने को सोच रहा था; मगर आजकल काम की वजह से अवकाश ही नहीं मिलता। बड़ी मुश्किल से आज आ पाया हूँ।

भट्टाचार्य्य—आपके लेखों और विशेषकर आपके सुमधुर काव्य—'मिलन'—से हमारी पत्रिका की बड़ी प्रतिष्ठा हुई है। मेरे पास यथेष्ट शब्द नहीं जो उनसे मैं आपका धन्यवाद करूँ।

रामानंद—हिंदी के सेवाव्रत में मैं और आप दोनों ही व्रती हैं। फिर कौन किसका धन्यवाद करे? कहिए, मेरे काव्य के समालोचक महोदय का कोई और लेख तो "वैजयंती" में छपने के लिये नहीं आया?

"हाँ, आया है।" यह कहते कहते भट्टाचार्य्यजी उठे और मेज की दराज को खोलकर कोई २० सफे का एक लेख निकाल लाए। मोती से अक्षरों की आभा को दूर से ही देखकर रामानंद का हृदय फड़क उठा।

लेख को रामानंद के हाथ में देते हुए भट्टाचार्य्यजी ने कहा—यह देखिए, उन्हीं का लिखा हुआ यह ताजा लेख आया है। "वैजयंती" की अगली संख्या का यही अग्रलेख होगा। इसमें समालोचना के गूढ़ रहस्य बहुत ही अच्छी तरह खोले गए हैं। जरा देखिए तो सही।

रामानंद ने लेख को पढ़ना शुरू किया। भट्टाचार्य्य ने बाहर जाकर अपने बगीचे से कुछ फल लाने के लिये चुपके

से अपने माली को आज्ञा दी। लेख के अभी दो पृष्ठ भी समाप्त न हुए होंगे कि रामानंद सहसा चौंक पड़े—"क्या यह सच है? अद्भुत व्यापार! विलक्षण घटना!" आदि वाक्य उनके मुँह से निकलने लगे।

इसी समय भट्टाचार्य्य महाशय कमरे में लौट आए। उनको देखकर रामानंद ने कहा—महाराज, जो रहस्य आप आज तक छिपाए हुए थे, मेरे बार बार पूछने पर भी जिसे आपने नहीं बताया उसे आज आपने स्वयं ही खोल दिया। आश्चर्य्य तो देखिए।

भट्टाचार्य्यजी ने जल्दी में पूछा क्या लेखक का असली नाम आपको मालूम हो गया?

रामानंद ने "हाँ, देखिए न" कहकर लेख का तीसरा पृष्ठ भट्टाचार्य्यजी के सामने रख दिया। उसमें एक फोटो सटा हुआ था और उसके नीचे लिखा था—

पितृतुल्य भट्टाचार्य्यजी की सेवा में सादर समर्पित,

मोहिनीबाला, एम० एस-सी०,

प्रिंसिपल, हिन्दू-गर्ल्स-कालेज,

बनारस।

इसी फोटो पर भट्टाचार्य्यजी ही के हाथ का लिखा हुआ था—

सुप्रसिद्ध 'मिलन'-समालोचिका

कमल (िनी)

रामानंद के आनंद का आज पार नहीं। मोहिनी के वियोगजन्य दुःख के कारण ही उन्होंने "मिलन" काव्य लिखा

था। भट्टाचार्य्यजी ने जलद-गंभीर घोष में बहुत देर बाद निःस्तब्धता तोड़ी। वे बोले—तो क्या आप श्रीमती मोहिनी बाला से परिचित हैं ?

रामानंद इसका उत्तर देने ही को थे कि फिर दरवाजा खुला और चपरासी एक और कार्ड लेकर कमरे में आया। कार्ड देखते ही भट्टाचार्य्यजी का चेहरा शुद्ध स्वर्ण-खंड-सम दमक उठा और "दो मिनट के लिये क्षमा कीजिए"—कहते हुए वे बाहर गए। कुछ क्षण बाद ही रामानंद ने मोहिनी और भट्टाचार्य्य को कमरे में प्रवेश करते देखा। मोहिनी एम० एस-सी० का चोगा पहने थी। देखते ही रामानंद उसको पहचान गए। पर मोहिनी की अभिज्ञान-शक्ति की परीक्षा लेने के लिये वे अखबार हाथ में लिए चुपचाप बैठे रहे। मोहिनी ने रामानंद को गबरून का कोट और हिंदुस्तानी जूता पहने देखा था। उस समय वे एक साधारण विद्यार्थी थे। पर आज वे सोलह आना साहब बने कोट-पैंट डाटे थे। इँग्लैंड में रहने के कारण उनका शरीर-संगठन और चेहरे का वर्ण भी पहले से बहुत कुछ बदल गया था। आखिर, मोहिनी ने धोखा खाया और वह दूसरी ओर भट्टाचार्य्यजी के सामने कुर्सी पर बैठकर उनसे बात-चीत करने लगी। मानों उसने इन साहब बहादुर को देखा ही नहीं। भट्टाचार्य्यजी से बड़े ही कोमल स्वर में मोहिनी ने कहा—

"मुझे क्षमा कीजिए। मैं परसों शाम को यहाँ आ गई पर आपके दर्शन इससे पहले न कर सकी।"

भट्टाचार्य्य—शुभे, आपने अपने आने की मुझे खबर तक न दी।

मोहिनी—मुझे स्वयं ही न मालूम था कि इसी सप्ताह मुझे यहाँ आना होगा।

बड़े स्नेह से भट्टाचार्य्य ने पूछा—कुशल तो है न?

मोहिनी—आपका अनुग्रह है। पिताजी की संपत्ति के विषय में यहाँ के प्रसिद्ध वकीलों से एक बहुत ही जरूरी मशविरा करने के लिये मुझे यहाँ सहसा आना पड़ा।

भट्टाचार्य्य—समझा।

मोहिनी ने बड़े चाव से पूछा—कहिए, कई महीनों से 'भ्रमर' महाशय का कोई लेख "वैजयंती" में नहीं छपा। क्या कारण है? ऐसा लेखक हिंदी-जगत् में दूसरा नहीं। दुःख है, आपको उन्होंने अपना नाम न बताने की इतनी सख्त ताकीद कर दी है। अन्यथा मैं तो उनके दर्शन करके अपने को धन्य समझती।

इन वाक्यों ने रामानंद के शरीर में बिजली की धारा सी बहा दी।

भट्टाचार्य्य ने मुसकराते हुए कहा—और आपके सदृश समालोचक भी हिंदी-संसार में दूसरा नहीं, यह कहने की मुझे आज्ञा दीजिए।

मोहिनी ने गरदन नीची करके कहा—धन्यवाद भट्टाचार्य्यजी, मैं तो हिंदी की एक क्षुद्र सेविका हूँ।

भट्टाचार्य्य ने यही समय इन दोनों के मिलन के लिये उपयुक्त समझा। उन्होंने कहा—हाँ, आप 'भ्रमर' से मिलना चाहती हैं! वे भी आजकल प्रयाग आए हुए हैं। आप मिल लीजिए। पर आपको भी अपनी जिद छोड़कर उनको पहले पत्र द्वारा यह सूचना देनी होगी कि आप ही उनके काव्य की समालोचिका, अपने शब्दों में 'कमल' और मेरे शब्दों में 'कमलिनी' हैं। कहिए मंजूर है ?

मोहिनी—प्रयाग में वे कहाँ ठहरे हैं, यह तो बता दीजिए।

भट्टाचार्य्य ने हँसते हुए कहा—मुझ बूढ़े को ठगने की चेष्टा न करो। जब तक उक्त मजमून का पत्र लिखकर न दोगी, 'भ्रमर' से नहीं मिल सकतीं।

"क्षमा कीजिए। पत्र लिखती हूँ"—यह कहकर मोहिनी ने मेज के ऊपर से कागज-कलम उठाकर पत्र लिखना आरंभ किया। इधर भट्टाचार्य्य ने मुँह फेरकर रामानंद की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा तो सिविल सर्विस की परीक्षा पास, न्यायमूर्त्ति, रामानंद उसी निःस्तब्धता से अखबार के ऊपर रखे हुए, 'समालोचना-तत्त्व' को पढ़ने का ढोंग कर रहे थे।

बड़े मीठे स्वर में मोहिनी ने कहा—पत्र लीजिए।

पत्र को हाथ में लिए भट्टाचार्य्य ने, दोनों के बीच में खड़े होकर, मोहिनी से कहा—मोहिनी, मैं तुम्हारा परिचय इलाहाबाद के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट पंडित रामानंद चतुर्वेदी, आई० सी० एस०, उपनाम 'भ्रमर' से कराता हूँ।

फिर रामानंद की ओर मुड़कर कहा—माननीय महाशय, मैं आपका परिचय आपकी समालोचिका विदुषी मोहिनीबाला से कराता हूँ।

इन शब्दों के समाप्त होते न होते मोहिनी रामानंद के चरणों पर गिर पड़ी। रामानंद ने उसको तत्काल ही बड़े प्रेम से उठा लिया।

वृद्ध भट्टाचार्य्य इनके निमित्त फलाहार लाने के लिये बाहर खिसक गए।

इसके एक सप्ताह बाद इलाहाबाद के दैनिक पत्र में निम्न-लिखित आशय की पंक्तियाँ छपीं—

भारतवासियों का मुख उज्ज्वल करनेवाले स्वनामधन्य मिस्टर रामानंद चतुर्वेदी का विवाह परम विदुषी श्रीमती मोहिनी-बाला के साथ कल बड़ी धूमधाम से हो गया। हाईकोर्ट के प्रधान विचारपति तथा अन्यान्य गण्य-मान्य सज्जन विवाह-मंडप में उपस्थित थे। ईश्वर करे, नवदंपती चिरजीवी होकर देश का मंगल-साधन करें।

मोहिनी के पिता ने कई लाख की संपत्ति छोड़ी थी, जिसकी एकमात्र अधिकारिणी मोहिनी थी। पर, रामानंद

को उस संपत्ति में सबसे अधिक मूल्यवान् वह पत्र प्रतीत हुआ जो मोहिनी के पिता की मृत्यु के बाद उनके बक्स में मिला था। उसमें लिखा था—

मोहिनी,

जिस दिन मैं इस नश्वर जगत् से विदा हो चुकूँगा उसी दिन तुम शायद यह पत्र पढ़ोगी। मुझे विश्वास है कि तुमने मेरी उस आज्ञा को, जो मैंने तुमको रामानंद के साथ पत्र-व्यवहार बंद करने के विषय में दी थी, सुनकर जरूर दुःख पाया होगा। पर आज मैं तुमसे कहता हूँ कि विना वैसी आज्ञा दिए तुम्हारी और रामानंद की विद्या-विषयक उन्नति असंभव थी। अब मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम रामानंद के साथ विवाह करके सुख से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। ईश्वर तुम्हारी सारी शुभ कामनाएँ सफल करे।

तुम्हारा स्नेहभाजन पिता, "देवधर"

—ज्वालादत्त शर्म्मा

——

(८) कर्तव्य और सत्यता

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में कर्तव्य का करना बिना दबाव से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले-पहल मन आप ही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरंभ पहले घर से ही होता है, क्योंकि यहाँ लड़कों का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्यों को देखते हैं। इसलिये संसार में, मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है; जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है; और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर

हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है। लड़को! तुमने बहुत देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कहकर खाना था। इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुराकर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? यही कि हम लोगों का एक कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें। परंतु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिये हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाए और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्यपरता से धनाढ्य हो गए और तुम कंगाल ही रह गए। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी करके बड़ी बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते है और तुम सदा कष्ट में

रहते हो। तुम अपने कर्तव्य-धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़कर संतोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इसलिये हम लोगों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिंता नहीं।

धर्मपालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अंत में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे, बिना अपना स्वार्थ सोचे, झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तब फिर किसी बात का

भय न रहेगा। देखो, इस संसार में जितने बड़े बड़े लोग हो गए हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिये आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना हैं, क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किए उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किसी अँगरेजी जहाज में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ाकर बिदा कर दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गए थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे; उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसी लिये उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने

चाहिएँ। इसी के विरुद्ध फ्रांस देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाए, किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है वह अपने कामों और वचनों में सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी के घर सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिये हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी बर्ताव न करना चाहिए। अतएव सत्यता को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना

और क्रुद्ध होना न चाहिए जब उनके नौकर भी उनसे अपने लिये झूठ बोलें।

बहुत से लोग नीति और आवश्यकता के बहाने झूठ की रक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना, नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी बात को सत्य सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा-फिराकर कहते हैं कि जिससें सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उल्टा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार कम नहीं।

संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपाकर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट न बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेस बदलना, झूठ-मूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य को न

बोलना इत्यादि। जब कि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह-देखी बातें बनाया करते हैं, परंतु करते वही काम हैं जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाए रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखनेवाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेस का निर्वाह पूरी रीति से न कर सकने पर दुःख सहता है और अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। परंतु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य-पालन कर सकता है।

इसलिये हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे

उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा सम्मान हो सकेगा और हम आनंदपूर्वक अपना समय बिता सकेंगे; क्योंकि सच्चे को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

—श्यामसुंदरदास

---

(६) मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरंभ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है, अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमीं को नहीं रहता। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे, उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं; क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी

पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्राय: बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता; पर युवा पुरुष प्राय: विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परखकर लेते हैं पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो-चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन का एक औषध है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए

कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है। अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बंधन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है और न उतनी खिन्नता। बालमैत्री में जो मग्न करनेवाला आनंद होता है, जो हृदय को बेधनेवाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है; कैसा अपार विश्वास होता है ! हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं ! वर्त्तमान कैसा आनंदमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के संबंध में कैसी लुभानेवाली कल्पनाएं मन में रहती हैं ! कैसा बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है ! कैसी क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा-पढ़ी होती है ! कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना-मनाना होता है ! 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय

के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है! किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गंभीर होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुंदर प्रतिभा, मनभावनी चाल और स्वच्छंद प्रकृति ये ही दो-चार बातें देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम में साथ देनेवाले मित्रों में इससे कुछ अधिक बातें चाहिएँ। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायँ; पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें; भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण

की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यंत प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं है, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्लचित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चंद्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महान् कार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़-चित्त और सत्य-संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव

ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। बर्क ने कहा है कि आचरण-दृष्टांत ही मनुष्य-जाति की पाठशाला है; जो कुछ वह उनसे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।

संसार के अनेक महान् पुरुष मित्रों की वदौलत बड़े बड़े कार्य्य करने में समर्थ हुए हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टांतों को देख देखकर उन्होंने अपने हृदय को दृढ़ किया है। अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है। उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकालकर सात्त्विकता के पवित्र शिखर पर पहुँचाया है। मित्र उन्हें सुंदर मंत्रणा और सहारा देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं, जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरंतर करते रहते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो विवेक को जागरित करना और कर्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पाँवों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों को भी श्रेष्ठ बनाते है। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में

सहारे के लिये है। यह सैर-सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी-दिल्लगी के गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्त्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिए। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए—"मित्र! अपना हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा सहारा होगा। तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी। पर यह नहीं कि सारा ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा, जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा। सत्यशील, न्यायी और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूँगा। जहाँ जहाँ तुम जाओगे, मैं भी जाऊँगा। तुम्हारी बढ़ती होगी तो मेरी भी बढ़ती होगी। जीवन के संग्राम में वीरता के साथ लड़ो क्योंकि तुम्हारी ढाल मैं लिए हूँ।"

जो बात ऊपर मित्रों के संबंध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के संबंध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो, उसे अपने मिलने-जुलनेवालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले-बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या वह

भविष्य के लिये आयोजन का स्थान नहीं ? क्या वह तुम्हारे हाथ सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा ? सोचो तो कि दो, चार, दस जितने गुण तुम्हें दिए गए हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने सौगुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज वा वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजाकर और हँसी-ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्त्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गभीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिदअली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्तव्यों के पालन के लिये दिया गया है, जो परलोक के लिये कुछ कमाई करने के लिये दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टांत हैं जिनके विचार भी महान् थे, कर्म भी महान् थे। जैसा कि महात्मा डिमास्थिनीज ने एथेंसवासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि "यदि हमें अपने महान् पूर्व-पुरुषों की भाँति कर्म करने का

अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिएँ और उनकी आत्मा के महत्त्व का अनुकरण करना चाहिए।" अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगति होगी, वैसा हमें समझेगी ही; पर हमें अपने कामों में भी संगत ही के अनुसार सहायता व बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यंत दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रखो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत वा अवनत होगे, उत्साहित वा हतोत्साह होगे। एक विद्वान् से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।" यदि हम जान-पहचान करने में बुद्धिमानी से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनकी बातचीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते

हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनंदमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिये कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनंद में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्त्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जायँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जायँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं, महफ़िलों में 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों

में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनंद से कोसों दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुंदर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुंदर आचरणवाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म्म कर गए हैं और न बड़े बड़े ग्रंथकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्त्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिये फूल-पत्तियों में कोई सौंदर्य्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनंत सागर-तरंगों में गंभीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनंद नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने सत्संस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच

उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँस-मुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष को संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देनेवाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इँगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिंदगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है; क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएँ, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण

करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहाँ से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार बार हृदय में उठती हैं और वेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा; अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बात बकनेवाले आगे चलकर आप सुधर जायँगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी; क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न

रह जायगी। अंत में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्मसंस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक, संगी-साथी न रहने से, बहुत घबराता है और कभी कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है, जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिये अच्छा तो यह होता कि वे किसी साहित्य-समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिये आवश्यक हैं। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे। भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार

[नेपथ्य से "अजान" का शब्द सुनाई दिया]

अकबर—नमाज का वक्त हो गया। इस वक्त यह शूरः मुलतवी रहे, फिर गौर किया जायगा।

(सबका प्रस्थान)

स्थान—उदयपुर राज-दरबार

[परम सुसज्जित तथा आलोकमय राजसिंहासन पर महाराणा प्रताप-सिंह विराजमान। दोनों ओर गुलाबसिंह, भामाशा, कविराजा आदि तथा राजपूत और भील सरदारगण श्रेणीबद्ध खड़े हैं।]

(नर्तकियाँ नाचती और गाती हैं)

गाओ गाओ आनंद बधाइयाँ।
हिंदूपति, क्षत्रिय-कुल-गौरव राणा सुख-सरसाइयाँ॥
राखी लाज आज भारत की अपुनी टेक निबाहियाँ।
जुग जुग जीएँ मेरे साईं तन मन धन सब वारियाँ॥

राणा—मेरे प्यारे भाइयो! आज श्री एकलिंगजी की कृपा और तुम लोगों के उद्योग से यह दिन देखने में आया कि इस पवित्र स्थान से हिंदू-द्वेषी यवनों का पौरा गया और फिर आज हम लोगों ने अपनी प्यारी जन्मभूमि का दर्शन पाया। जिस स्वाधीनता की रक्षा के लिये हम लोगों के अगणित पूर्वपुरुषों ने अकुंठित हो संग्राम-स्थल में परमप्रिय जीवन विसर्जित किया था वह आज हमें जगदीश्वर की कृपा से प्राप्त हुई। इससे बढ़कर भी कोई आनंद की बात हो सकती है? प्यारे भाइयो, बस हमारा यही उपदेश है कि संसार में जीना तो अपने गौरव-

सहित जीना, नहीं मरना तो हई है। अहा! महा-बाहु अर्जुन का कैसा आदरणीय और अनुकरणीय सिद्धांत था—

आयू रक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति।
अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्॥

कविराजा—ठीक है, पृथ्वीनाथ, आप जो आज्ञा कर रहे हैं उसे आपने प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप कर भी दिखाया। अहा!

जो न प्रगट होते प्रताप भारत-हितकारी।
को करि सकत कलंकरहित हिंदू-व्रतधारी?
अकबर से उद्दंड शत्रु दरि निज प्रण राखी।
को हिंदू-गौरव को सब जग करतो साखी?
या प्रबल म्लेच्छ इतिहास में हिंदू नाम बिलावतो।
को, हे प्रताप! बिनु तुव कृपा यह अपवाद मिटावतो॥

राणा—कविराजाजी, आप मुझे व्यर्थ की बड़ाई देते हैं मैं तो निमित्त मात्र था। जो ये सब राजपूत और भील सरदारगण सहायता न करते तो मैं अकेला क्या कर सकता था। आहा! झाला महाराज मानसिंह ने तृणवत् अपना शरीर दे दिया और मुझे बचाया; महाराज खंडेराव, राजा रामसिंह ऐसे वीर पुरुषों ने मेरे लिये क्या क्या न किया। हाय! मैं अब इनके लिये क्या कर सकता हूँ? बड़े कविराजाजी ने अपने देश की जैसी सेवा की और जिस भाँति प्राण दिया, कौन नहीं जानता? जब तक पृथ्वी रहेगी, इन लोगों का यश स्वर्णाक्षरों में मेवाड़ के इतिहास में अंकित रहेगा। प्यारे चेतक

ने पशु होकर मेरा जैसा उपकार किया उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता ! मंत्रिवर, जहाँ चेतक का शरीर गिरा है वहाँ एक उत्तम समाधि बनवाई जाय और प्रतिवर्ष उसके सम्मानार्थ मेला लगा करे। मैं स्वयं वहाँ चला करूँगा। (कविराजा से) कविराजजी, आप एक पर्वाना लिखिए कि जब तक मेरे और भामाशा के वंश में कोई रहे, मंत्री का पद भामाशा के वंशज को ही दिया जाय। आज मैं इन्हें प्रथम श्रेणी के सरदारों में स्थान देकर झटक-रट ताजीम, पैर में सोने का लंगर, पाग पर माँझा आदि यावत् प्रतिष्ठा बख्शता हूँ, जो इनकी सेवा के आगे सर्वथा तुच्छ है। (गुलाबसिंह के प्रति) वत्स गुलाबसिंह, तुमने अपने प्रण को जैसी दृढ़ता से निवाहा, सबको उससे शिक्षा लेनी चाहिए। आहा ! तुम्हारा और मालती का प्रेम आदर्श-स्वरूप है। तुम दोनों ने अपने अपने प्रण को दृढ़तापूर्वक निबाहा, इसलिये विलंब का प्रयोजन नहीं। मंत्री, मेरी ओर से मालती के विवाह की तैयारी की जाय। दायजे में जागीर आदि का सब प्रबंध मैं स्वयं करूँगा। आप एक शुभ मुहूर्त्त दिखलावें और अब इस शुभ संयोग में विलंब न करें। मैं स्वयं इन दोनों का विवाह अपने हाथ से करूँगा।

(गुलाबसिंह राणा के पैरों पर गिरता है और राणा उठाकर उसे हृदय से लगाते हैं।)

(राजकुमार के प्रति) देखो; कुँवरजी ! अपने धर्म और देश-रक्षार्थ मैंने जो जो कष्ट सहे हैं, तुमने अपनी आँखों से

देखा है। देखो, ऐसा न हो कि तुम हमारे पीछे विलासप्रियता में पड़ अपने पिता का नाम डुबाओ, प्रताप की कीर्त्ति पर धब्बा लगाओ, और मरने पर मेरी आत्मा को सताओ। मेरे इन वाक्यों को सदा स्मरण रखना—

जब लौं जग में मान तबहिं लौं प्रान धारिए।
जब लौं तन में प्रान न तब लौं धर्म छाड़िए॥
जब लौं राखै धर्म तवहि लौं कीरति पावै।
जब लौं कीरति लहै जन्म सारथ कहवावै॥
हे वत्स! सदा निज वंश की मरजादा निरबाहियो।
या तुच्छ जगत-सुख कारनै जनि कुल नाम हँसाइयो॥

(सरदारों के प्रति)

मेवाड़ की शोभा, मेरे प्यारे भाइयो,—
यह बालक अज्ञान सौंपत तुमको आजु हम।
जब लौं तन में प्रान, मान जान जनि दीजियो।

(सब सरदारगण सिर झुका हाथ जोड़ सजलनेत्र पृथ्वी की ओर देखते हैं।)

(नर्तकियाँ गाती हैं)

यह दिन सब दिन अचल रहै।
सदा मिवार स्वतंत्र विराजै निज गौरवहिं गहै॥
घर घर प्रेम एकता राजै, कलह कलेस बहै।
बल, पौरुष, उत्साह, सुदृढ़ता आरजबंस चहै॥

वीरप्रसविनी वीर-भूमि यह वीरहिं प्रसव करै।
इनके वीर क्रोध मैं परि अरि कायर क्रूर जरै॥
राजा निज मरजाद न टारै, प्रजा न भक्ति तजै।
परम पवित्र सुखद यह शासन, सब दिन यहाँ सजै॥
जब लौं अचल सुमेरु विराजत, जब लौं सिंधु गँभीर।
तब लौं हे प्रताप तुव कीरति गावैं सब जग वीर॥
हे करुनामय दीनबंधु हरि! नित तुव कृपा बसै।
यह आरत भारत दुख तजिकै परम सुखहिं बिलसै॥

(परम प्रकाश के साथ धीरे धीरे पटाक्षेप)

—राधाकृष्णदास

——

(१२) महाराणा प्रतापसिंह

प्रातःस्मरणीय हिंदूपति वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतंत्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थत्यागी, नीतिज्ञ, दृढ़-प्रतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदर्श था कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकाएगा। स्वदेशप्रेम, स्वतंत्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल मंत्र थे। उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था। वह कहा करता था कि यदि महाराणा साँगा और मेरे बीच कोई और न होता तो चित्तौड़ कभी मुसलमानों के हाथ न जाता। वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में इसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने उसका विध्वंस करने के लिये अपने संपूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था। बहुत से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुए थे।

यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतंत्रता का पुजारी केवल थोड़े से स्वदेशभक्त और कर्त्तव्यपरायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। उसकी वीरता, रणकुशलता, कष्टसहिष्णुता और नीतिमत्ता अत्यंत प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी। इन्हीं गुणों के कारण वह अकबर को, जो उस समय संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसंपन्न सम्राट् था, अपने छोटे से राज्य के बल पर वर्षों तक हैरान करता रहा और फिर भी अधीन न हुआ। अकबर ने उसे अधीन करने के लिये बहुत से प्रयत्न किए, अपने योग्य सेनापतियों को कई बार उस पर भेजा, एक बार स्वयं भी चढ़ आया, परंतु राणा के आगे एक भी चढ़ाई में उसका मनोरथ पूर्ण न हुआ। राणा ने बादशाह के आगे सिर न झुकाया और न उसे बादशाह ही कहा। उसने मेवाड़ के उपजाऊ प्रदेश को उजाड़ दिया, खेती नष्ट करवा दी और शाही फौज की रसद तथा व्यापार का मार्ग रोककर नीतिज्ञता का परिचय दिया। वह केवल वीर और रणकुशल ही नहीं, किंतु धर्म को समझनेवाला सच्चा क्षत्रिय था। केवल शिकार के लिये कुछ सिपाहियों के साथ आते हुए मानसिंह पर धोखे और छल से हमला न कर और अमरसिंह द्वारा पकड़ी गई

बेगमों को सम्मानपूर्वक लौटाकर उसने अपनी विशालहृदयता का परिचय दिया। प्रलोभन देकर राजपूत राजाओं और सरदारों को सेवक बनानेवाली अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देनेवाला था तो महाराणा प्रताप ही।

उक्त महाराणा के विषय के कर्नल टाड का कथन है—अकबर की उच्च महत्त्वाकांक्षा, शासननिपुणता और असीम साधन, ये सब बातें दृढ़चित्त महाराणा प्रताप की अदम्य वीरता, कीर्त्ति को उज्ज्वल रखनेवाले दृढ़ साहस और किसी अन्य जाति में न पाया जावे ऐसे निष्कपट अध्यवसाय को दबाने में पर्याप्त न थी। आल्प पर्वत के समान अर्वली में कोई भी ऐसी घाटी नहीं, जो प्रताप के किसी न किसी वीर-कार्य, उज्ज्वल विजय या उससे अधिक कीर्त्तियुक्त पराजय से पवित्र न हुई हो। हल्दीघाटी मेवाड़ की थर्मोपिली और दिवेर मेवाड़ का मरेथान है।

वीर-श्रेष्ठ महाराणा के कार्य आज भी मेवाड़ की एक एक उपत्यका में वर्तमान समय के से जान पड़ते हैं। आज भी उसके वीर-कार्यों की कथाएँ और गीत प्रत्येक वीर राजपूत के हृदय में उत्तेजना पैदा करते हैं। महाराणा का नाम न केवल राजपूताने में किंतु संपूर्ण भारतवर्ष में अत्यंत आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। अँगरेजी तथा भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में प्रताप के वीरत्व और यशोगान के अनेक ग्रंथ बन चुके हैं और बनते जा रहे हैं। भारत के भिन्न भिन्न विभागों

में महाराणा की जयंती भी मनाई जाने लगी। जब तक संसार में वीरों की पूजा रहेगी, तब तक महाराणा का उज्ज्वल और अमर नाम लोगों को स्वतंत्रता और देशाभिमान का पाठ पढ़ाता रहेगा। खेद है कि ऐसे वीर महाराणा का मेवाड़ में अब तक कोई स्मारक नहीं बना।

महाराणा का कद लंबा, आँखें बड़ी, चेहरा भरा हुआ और प्रभावशाली, मूछें बड़ी, छाती चौड़ी, बाहु विशाल और रंग गेहुँआ था। वह पुराने रिवाज के अनुसार दाढ़ी नहीं रखता था।

—गौरीशंकर हीराचंद ओझा

---

(१३) उद्देश्य और लक्ष्य

प्रत्येक युवक को अपनी जीवन-यात्रा आरंभ करने के पहले अपने उद्देश्य और लक्ष्य स्थिर कर लेने चाहिएँ। उनका अभाव जीवन के उपयोगों के लिये बड़ा ही घातक होता है। जो मनुष्य बिना किसी उद्देश्य पर लक्ष्य किए जीवन आरंभ कर देता है, उसकी उपमा उस मनुष्य से दी जा सकती है, जो बिना कोई गंतव्य स्थान नियत किए ही रेल या जहाज पर सवार हो लेता है। वह मनुष्य न तो यही जानता है कि मुझे कहाँ जाना है और न उसे यही ज्ञात है कि रेल या जहाज मुझे कहाँ पहुँचावेगा। उसका कहीं पहुँचना रेल या जहाज की कृपा पर ही अवलंबित है। रेल चाहे उसे काश्मीर की सीमा तक पहुँचा दे और जहाज चाहे उसे मिर्च के टापू में उतार दे। रेल या जहाज उसे चाहे जिस स्थान पर पहुँचा दे, पर स्वयं उसे उस स्थान से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। हाँ, काश्मीर पहुँचकर वह थोड़ी सी सैर जरूर कर लेगा; और मिर्च देश में संभव है कि कुछ कष्ट भी उठा ले। पर इन सबका कोई विशेष फल नहीं। वास्तविक फल की प्राप्ति केवल गंतव्य स्थान निश्चित कर लेने से ही होती है; व्यर्थ की जगहों पर जाकर झूठ-मूठ टक्करें मारने से नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सबसे पहले यह निश्चय कर लेना

चाहिए कि "मैं क्या होऊँगा।" इस प्रकार जब वह अपना उद्देश्य निश्चित कर ले, तब उस मार्ग में अग्रसर हो। अपना उद्देश्य या लक्ष्य निश्चित करने का सबसे अच्छा अवसर बाल्य और युवावस्था की संधि है। हमारा तात्पर्य उस समय से है, जब कि युवक अपनी शिक्षा आदि समाप्त करके सांसारिक व्यवहारों में लगने की तैयारी करता हो। उस समय वह जिस बात पर अपना लक्ष्य करे, उसे बिना पूरा किए न छोड़े। ऐसा करने से उसका जीवन सार्थक होगा और उसमें दृढ़ता, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुण आपसे आप आने लगेंगे। जब एक बार वह अपना उद्देश्य पूरा कर लेगा, तब उसे और आगे बढ़ने का साहस होगा और वह दूसरी बार आगे से अधिक उत्तम विषय को अपना लक्ष्य बनावेगा। इस प्रकार एक के बाद एक, उसके कई मनोरथ पूर्ण होंगे और वह जीवन की वास्तविक सफलता प्राप्त कर लेगा।

अपना उद्देश्य स्थिर करने को सफलता-शिखर की पहिली सीढ़ी समझना चाहिए। इसी पर मनुष्य का सारा भविष्य निर्भर है और इसी लिये यह उसकी सफलता या विफलता का निर्णायक है। इस अवसर पर यह बात भूल न जानी चाहिए कि हमारा कथन केवल उन्हीं युवकों के लिये है जो अपने पुरुषार्थ से जीविका निर्वाह करना चाहते हों। जिन्होंने जन्म से सदा मखमली बिछौने पर आराम किया हो, वे यदि जीवन और उसके कर्त्तव्यों का यथार्थ महत्त्व समझते हों तो वे

भी इन उपदेशों से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। पर यदि वे इन पर यथेष्ट ध्यान न देकर कोई भूल भी कर बैठें, तो उनकी उतनी हानि नहीं हो सकती; और यदि हो भी तो उसकी शीघ्र पूर्ति हो जाती है। पर अधिकांश लोगों को अपने शरीर और मस्तिष्क से ही परिश्रम करके रुपया पैदा करना पड़ेगा और इसी कारण अपना उद्देश्य स्थिर करना उनके लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने लिये ऐसा व्यापार, पेशा, नौकरी अथवा और कोई काम स्थिर करना चाहिए जो अपनी शारीरिक शक्तियों तथा परिस्थिति के बिलकुल अनुकूल हो। इसके विरुद्ध यदि वह अपने लिये कोई ऐसा काम सोचे जो उसकी योग्यता या शक्ति से बाहर हो, तो अवश्य ही उसे विफल-मनोरथ होना पड़ेगा। जिस आदमी की रुचि व्यापार करने की ओर हो, उसे यदि रेल में टिकट-कलेक्टर बना दिया जाय तो भला जीवन में उसे क्या सफलता होगी? जो जन्म से तान उड़ाने का शौकीन हो, वह ज्योतिष पढ़कर क्या करेगा? एक हृष्ट-पुष्ट, धीर और साहसी मनुष्य शारीरिक परिश्रमवाले कार्यों में तो बहुत अच्छी सफलता प्राप्त कर लेगा, पर विचारक या पत्र-संपादक का काम उसके किए भली भाँति न हो सकेगा। पर ये सब विषय इतने गूढ़ हैं कि साधारणतः युवक लोग इन्हें भली भाँति नहीं समझ सकते। अतः यह कर्त्तव्य प्रधानतः विचारवान् माता-पिता का होना चाहिए कि वे अपनी संतान के लिये ऐसा काम सोचें जो सब प्रकार से उसकी रुचि,

अवस्था और शक्ति के अनुकूल हो। यदि माता-पिता ने अपने पुत्र की रुचि समझने में कुछ भूल की तो परिणाम उलटा ही होगा। नानकशाह के पिता तो उन्हें सौदागर बनाना चाहते थे और बार बार सौदागरी के लिये रुपए देते थे; पर बाबा नानक क्या करते थे? सब रुपये साधु-संतों को खिलाकर स्वयं भगवद्-भजन में लग जाते थे।

युवकों को उचित है कि वे अपने लिये वही काम सोचें जिसका करना उनकी शक्ति के बाहर न हो। जिस काम के लिये दिल गवाही न दे, वह कभी न करना चाहिए। पर साथ ही अनुचित भय या आशंका के कारण अपनी शुद्ध इच्छा या प्रवृत्ति को कभी रोकना भी न चाहिए। युवावस्था में मनुष्य स्वभावतः साहसी होता है और अच्छे या बुरे परिणाम पर उसका ध्यान नहीं रहता। इसी लिये कभी कभी वह निःशंक भाव से ऐसे ऐसे कामों का बोझ अपने ऊपर ले लेता है जिनका पूरा उतरना उसकी शक्ति के बाहर होता है। अपनी शक्ति का ठीक ठीक अनुभव करने में सबसे अधिक सहायता उस अनुभव-जन्य ज्ञान से मिलती है, जो कुछ कष्ट और हानि सहकर प्राप्त किया जाता है। आरंभिक अवस्था में लोगों को जल्दी ऐसा ज्ञान नहीं होता और प्रायः इसी लिये लोग अधिक धोखा भी खाते हैं।

इस अवसर पर एक और बात बतला देना परम आवश्यक है। अपनी साधारण पसंद को ही हमें अपनी वास्तविक और

शुद्ध रुचि या प्रवृत्ति न समझ लेना चाहिए। अगर किसी को गाना-बजाना कुछ अच्छा लगता हो, तो वह यह न समझ ले कि मैं संसार में दूसरा तानसेन बनने के लिये ही आया हूँ। यदि अपरिपक्व बुद्धिवाला कोई युवक किसी बड़े भारी वैज्ञानिक को देख अथवा उसका हाल सुनकर बिना उसके परिश्रम और कठिनाइयों का हाल जाने ही उसके समान बनने का प्रयत्न करे, तो अवश्य ही उसकी गिनती मूर्खों में होगी। यद्यपि ऐसी भूलें बड़े-बूढ़ों और वयस्क मनुष्यों से भी हो सकती हैं तथापि एक अज्ञानी युवक की भूलों की अपेक्षा बहुत ही कम हानिकारक होंगी। इसी लिये सब कामों में बड़ों से सम्मति ले लेना और साथ ही उनकी सम्मति का पूरा पूरा आदर करना बहुत ही लाभदायक होता है। आज कल के कुछ नवयुवक नई रोशनी के फेर में पड़कर अपने बाप-दादा या दूसरे बड़े-बूढ़ों को निरा मूर्ख समझकर उनका निरादर और अपमान करने लगते हैं। ऐसे लोग प्रायः हानि ही उठाते हैं, और अनेक प्रकार के लाभों से वंचित रहते हैं। बड़ों की सम्मति से चलने में पहले पहल भले ही कुछ कठिनता या अनुपयुक्तता जान पड़े, पर आगे चलकर शीघ्र ही अपना भ्रम प्रकट हो जाता है; और तब बड़ों के आज्ञाकारी बनने में और भी उत्तेजन मिलता।

जो मनुष्य कठिनाइयों और विफलताओं की कुछ भी परवा न करके अपने मार्ग के कंटकों को बराबर दूर करता

जाता है, वही संसार को कुछ कर दिखलाता है। पर इतनी श्रेष्ठ योग्यता बहुत ही कम लोगों में होती है। जिन लोगों में ऐसी ईश्वर-प्रदत्त योग्यता न हो, उन्हें उचित है कि वे अपने विचारों को उत्तमतर बनावें और राग, ईर्ष्या, द्वेष आदि से सदा दूर रहें। ऐसा करने से उनका कार्य्य बहुत सरल हो जायगा और योग्यतावाले अभाव की कुछ अंशों में पूर्ति हो जायगी। जिस मनुष्य के प्रत्येक कार्य्य में सत्यता और प्रत्येक विचार में दृढ़ता होती है, वही महानुभाव कहलाने के योग्य होता है। ऐसे मनुष्य पर अनुचित प्रलोभनों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह कठिन से कठिन विपत्तियों को ईश्वरेच्छा समझकर धैर्यपूर्वक सहन करता है, और सदा शांत तथा निर्भय होकर आपदाओं का सामना करता है। ईश्वर और सत्यता पर उसका बहुत ही अटल विश्वास रहता है। इसलिये सदा सत्य पक्ष का अनुसरण करो और अध्यवसाय पूर्वक अपने काम में लगे रहो। संसार के सभी लोग बहुत बड़े विद्वान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आविष्कर्त्ता या करोड़पति नहीं बन सकते। पर हाँ, सभी लोग अपने जीवन को प्रतिष्ठित और सुखपूर्ण अवश्य बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि अप्रतिष्ठा और विफलता छोटे अथवा तुच्छ समझे जानेवाले कामों में नहीं है, बल्कि उन कामों को अपनी शक्ति भर न करने में है। जूता सीना निंदनीय नहीं है, निंदनीय है मोची होकर खराब जूता सीना।

इस देश के लोगों में सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि वे अपने बालकों को विद्यारंभ कराने के समय ही निश्चय कर लेते हैं कि लड़का पढ़-लिखकर नौकरी करेगा। पर स्वतंत्रतापूर्वक घड़ीसाजी या बिसातखाने की छोटी सी दूकान करने की अपेक्षा किसी दफ़्तर में १५) महीने की नौकरी को अच्छा समझना बड़ी भारी भूल है। १५) के मुहर्रिर को सबेरे दस बजे से सन्ध्या के सात बजे तक दफ़्तर में पीसना पड़ता है; और जब उतनी थोड़ी आय में उसका काम नहीं चलता, तब वह सबेरे और संध्या के समय लड़कों को पढ़ाने का अथवा इसी प्रकार का और कोई काम ढूँढ़ने लगता है। इस प्रकार उसका सारा जीवन बड़े ही कठोर परिश्रम में बीतता है; और वह बड़ी ही दरिद्र तथा दुःखपूर्ण अवस्था में इस संसार को छोड़कर चल बसता है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो नौकरी में बहुत अधिक परिश्रम करते हैं। ऐसे मनुष्य यदि किसी स्वतंत्र काम में नौकरी की अपेक्षा आधा परिश्रम भी करें, तो वे अपेक्षाकृत उत्तमतर जीवन निर्वाह कर सकते हैं। पर वे नौकरी के उस भूत से लाचार रहते हैं, जो उनके माता-पिता बाल्यावस्था में ही उनके सिर पर चढ़ा देते हैं।

इधर कुछ दिनों से अमेरिका के साधारण निवासियों को वकील, डाक्टर अथवा पादरी बनाने का खब्त बुरी तरह से सवार है। उनका अनुमान है कि इन्हीं कामों में सबसे अधिक धन भी मिलता है और प्रतिष्ठा भी होती है। इसी खब्त के

के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें; अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बड़े बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के संबंध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञापालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये कुछ स्वार्थत्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सुंदर चाल-ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। स्वसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आद-मियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यव-हार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुंदर वस्तु को देखकर हम सब लोग प्रसन्न होते हैं। सुंदर चाल-ढाल को

देख हम सब लोग आनंदित होते हैं। मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग संतुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं, शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुकूल होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें हँसना न चाहिए। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड-गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

—रामचन्द्र शुक्ल

—

(१०) सागर और मेघ

सागर—मेरे हृदय में मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण है—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही वारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व !

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमड़ी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक। क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं ?

मेघ—(मुसकराया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुत सा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोड़ती हैं, उसी से कर देने की निरंतरता कायम रहती है।

सागर—वाष्पमय शरीर ! क्या बढ़ बढ़कर बातें करता है। अंत को तुझे नीचे गिरकर मुझी में बिलाना पड़ेगा।

मेघ—खार की खान ! संसार भर से नीच ! सारी पृथ्वी के विकार ! तुझे मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुझे अमृतवारि-धारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले।

बादल—(अट्टहास करता है) क्यों मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ। वह उसी के विनिमय में यह करता है। उसका यह कर्म मेरी संपत्ति है। वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है।

सागर—और मैं जो उसे रोज विश्राम देता हूँ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर—तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ—(इठलाकर) धन्य रे व्रती, मानों श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता हो। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गंभीरता से) और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ। तनिक उस पर तो ध्यान दो।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और कुछ नहीं, शुद्ध स्वार्थ है। क्योंकि वह मुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि ! हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय।

मेघ—(एक साँस लेकर) आः ! यह हिंसा-वृत्ति। और क्या; मर्यादा-नाश क्या कोई साधारण बात है—

सागर—हो, हुआ करे। मेरा आयास तो बढ़ जायगा।

मेघ—आः ! उच्छृंखलता की इतनी बड़ाई ?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश भर में इधर से उधर मारा मारा फिरता है।

मेघ—धन्य तुम्हारा ज्ञान! मैं यदि सारे आकाश में घूम फिर के संसार का निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो जीवन-दान न करूँ तो रसा नीरसा हो जाय, उर्वरा से वंध्या हो जाय। तू नीचे रहनेवाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्त्व को क्या जाने।

सागर—यदि तू मेरे लिये ऊपर है तो मैं भी तेरे लिये ऊपर हूँ; क्योंकि हम दोनों का आकाश एक ही है।

मेघ—हाँ! निस्संदेह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय में कंकड़-पत्थर और शंख-घोंघे भरे हैं।

सागर—बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को कंकड़-पत्थर और मोतियों को सीप-घोंघे समझते हो।

मेघ –(बड़े वेग से गड़गड़ करके हँसता हुआ) तुम्हारे रत्न तो, तुम्हें मथकर, कभी के देवताओं ने निकाल लिए। अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो।

सागर—और मनुष्य जो इन्हें निकालने के लिये नित्य इतना श्रम करते हैं तथा इतने प्राण खोते हैं?

मेघ—वे अमरों की झूठी स्पर्धा करने में मरे जाते हैं।

सागर—अच्छा! जिनका स्वरूप प्रतिक्षण बदला करता है उनकी दलील का कोटिक्रम ऐसा ही होता है।

मेघ और जो क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकते उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बातें हैं, क्यों न ?

सागर—अरे, अपनी सीमा में रमने की मौज को अस्थिरता समझनेवाले मूर्ख ! तू ढेर-सा हल्ला ही करना जानता है कि—

मेघ—हाँ मैं गरजता हूँ तो बरसता भी हूँ। तू तो ..

सागर—यह भी क्यों नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ।

बादल—हाँ, आततायियों को समुचित दंड देने के लिये।

सागर—कि स्वतंत्रों का पक्ष छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिय !

बादल—हाँ, तू संसार को दलित करनेवाले उच्छृंखलों का पक्ष क्यों न लेगा; तू तो उन्हें छिपाता है न !

सागर—मैं दीनों की शरण अवश्य हूँ !

बादल—सच है अपराधियों के संगी। यही दीनों की सहायता है कि संसार के उत्पातियों और अपराधियों को जगह देना और संसार को सदैव भ्रम में डाले रहना।

सागर--दंड उतना ही होना चाहिए कि दंडित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय। अगर वह अपाहिज हो गया तो—

बादल—हाँ, यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिंता में नित्य शस्त्र लिए खड़ा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे।

सागर—एक छोटे से मैनाक की इतने बड़े विश्व में क्या गिनती।

बादल—जो अम्ल के एक बूँद की मनों दूध में। तू इस क्षात्रधर्म की सूक्ष्मता को क्या समझे।

सागर—और तूने हाथ में नर-कंकाल का एक टुकड़ा ले लिया कि बड़ा बृहस्पति बन बैठा।

बादल—आः, सुरराज के शस्त्र की यह अवमानना! तू तो साठ हजार मर्त्यों का द्रव है।

सागर—तो क्या यह बात भी सत्य नहीं कि वज्र की रचना के लिये एक तपस्वी की हत्या कराई गई?

बादल—हाँ, कुलिश ने अपनी उत्पत्ति से दधीचि की तपस्या सफल कर दी थी।

सागर—तुम लोग जान ले लेना कोई बात ही नहीं समझते?

बादल—हम हत्या, वध, आलभन, बलिदान, हिंसा, नाश आदि का विभेद जानते हैं। इन गहन विषयों को तू क्या समझे?

सागर—मैं हत्यारों से बात नहीं करना चाहता।

बादल—और मैं उन दुर्बल हृदयवालों से बात नहीं करना चाहता जो कायरता और कापुरुषता को धर्मभीरुता मानते हैं।

—राय कृष्णदास

——

(११) त्याग और उदारता

[राजपूताने के सब राजा अकबर बादशाह के अधीन हुए, पर उदयपुर के महाराणा प्रताप ने अधीनता नहीं मानी। सं० १६३३ में बादशाही फौज ने महाराणा पर चढ़ाई की। महाराणा बड़ी वीरता से लड़े। यह लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। महाराणा को बड़े बड़े कष्ट झेलने पड़े पर वे दृढ़ बने रहे। संकट के समय उनके देशभक्त और स्वामिभक्त मंत्री ने कैसा त्याग, उच्च हृदय और अकबर ने कैसी उदारता दिखाई उसी का दृश्य अंकित है।]

स्थान—मेवाड़ का सीमाप्रांत

[आगे आगे घोड़े पर सवार राणा प्रतापसिंह, पीछे पीछे घोड़े पर कुछ सरदार लोग।]

राणा—मेरे विपत्ति के सहायक भाइयो! मेरे साथ तुम लोगों ने बड़े दुःख उठाए और अंत में अब यह दिन आया कि मुझ भाग्यहीन के साथ तुम्हें भी अपनी प्यारी जन्मभूमि को छोड़ना पड़ता है। अहा, सच है—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"।

एक सरदार—अन्नदाता! यह आपके कहने की बात है? क्या अपने लिये यह कष्ट उठा रहे हैं? जिस जन्मभूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं वह क्या हमारी नहीं है? उसकी रक्षा करना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है?

राणा—पर भाई, इस अधम प्रताप के किए जन्मभूमि की रक्षा भी तो नहीं हुई ! अब तो जन्मभूमि को भी शत्रुओं के हाथ में छोड़कर अज्ञातवास करने चले हैं।

सरदार—क्या हुआ पृथ्वीनाथ ! कोई यह तो न कहेगा कि राणा प्रतापसिंह ने सुख की चाह में अपनी जन्मभूमि को यवनों के हाथ वेचा ? परमेश्वर की लीला कौन जानता है। क्या आश्चर्य है कि फिर ऐसा समय आवे कि जब श्रीहुजूर अपने देश को शत्रुओं से लौटा सकें। धर्मावतार, उस समय कलंकित पैर से तो राजसिंहासन पर न चढ़ेंगे।

राणा—इसमें तो संदेह नहीं; और फिर अपनी आँखों से अपने देश की यह दुर्दशा देखते हुए जीते रहने से तो अनजाने विदेश में मरना ही अच्छा; क्योंकि—

"मरनो भलो बिदेस को जहाँ न अपनो कोय।
माटी खायँ जनावराँ महा महोच्छव होय॥"

एक सरदार—ठीक है—

दुरदिन पड़े रहीम कहि दुरथल जैये भागि।
जैसे जैयत घूर पर जब घर लागति आगि॥

राणा—सच है, अच्छा चलो भाइयो। चलो, अब इस स्थान की मोह-माया छोड़ो। (आँखों में आँसू भरकर)

जेहि रच्छी इक्ष्वाकु सों अब लौं रविकुल-राज।
हाय अधम परताप तू तजत ताहि है आज॥

तजत ताहि है आज प्राण सम प्यारी जो हा।
हे मिवार सुखसार! कृपा करि छमियो मोही॥
रह्यो सदा ह्वै भार, काज आयो तुम्हरे केहि?
बिदा दीजिए हमैं भार हलुकाय आजु जेहि॥

[सब लोग सजल नेत्र बेर बेर पीछे की ओर देखते देखते घोड़ा बढ़ाते हैं और दूर से घोड़ा दौड़ाते हाथ उठाकर रोकते हुए भामाशा दिखाई पड़ते हैं।]

भामाशा—(पुकारकर) ओ मेवाड़ के मुकुट! ओ हिंदू नाम के आश्रयदाता! तनिक ठहरो। इस दास की एक विनती सुनते जाओ। भामाशा को अकेले छोड़कर मत जाओ।

राणा—(घोड़ा रोककर) भामाशा ऐसे घबराए हुए क्यों आ रहे हैं?

[भामाशा पास आ जाते हैं और घोड़े से कूदकर राणा के पैरों पर रोते हुए गिरते हैं। राणा घोड़े से उतरकर भामाशा को उठा छाती से लगाते हैं। दोनों खूब रोते है।]

राणा—मंत्रिवर, तुम ऐसे धीर-वीर होकर आज ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो?

भामाशा—प्रभो, मेरे अधैर्य का कारण आप पूछते हैं?
धिक सेवक जो स्वामि-काज तजि जीवन धारै।
धिक जीवन जो जीवन-हित जिय नाहिं विचारै॥
धिक शरीर जो निज-कर्त्तव्य-विमुख ह्वै बचै।
धिक धन जो तजि स्वामि-काज स्वारथ हित संचै॥

धिक देशशत्रु किरतघ्न यह भामा जीवत नहिं लजत।
जेहि अछत वीर परताप वर असहायक देमहिं तजत॥

राणा—परंतु इसमें तुम्हारा क्या दोष? तुमने तो अपने साध्य भर कोई बात उठा नहीं रखी।

भामाशा—अन्नदाता, यह आप क्या कहते हैं? परम स्वार्थी भामाशा ने आपके लिये क्या किया? अरे! आपके अन्न से पला हुआ यह शरीर सुख से कालक्षेप करे और आप वन वन की लकड़ी चुनें और पहाड़ पहाड़ टकरायँ! प्रतापसिंह स्वाधीनता रक्षार्थ, हिंदू नाम अकलंकित-करणार्थ देश-त्यागी हों और भामाशा अपने जन्मभूमि निवास का स्वर्गोपम सुख भोगे! जिन राणा की जूतियों के प्रसाद से भामाशा भामाशा बना है वे ही राणा पैसे-पैसे को मुहताज हो, सहायताहीन होने के कारण निज देशोद्धार में असमर्थ हो, प्राणोपम जन्मभूमि को छोड़ मरुभूमि की शरण लें, और भामाशा धनीमानी बनकर, ऐसे उपकारी स्वामी की सेवा छोड़कर विदेशीय, विजातीय, हिंदुओं के गौरव को मिटानेवाले राजा की प्रजा बनकर सुखपूर्वक कालयापन करे। धिक्कार है ऐसे सुख पर!! धिक्कार है ऐसे जीवन पर!!!

राणा—पर भामाशा, तुम इसको क्या करोगे? जो भाग्य में होना है वही होता है। अब तुम क्या चाहते हो?

भामाशा—धर्मावतार, आज मेरी एक विनती स्वीकार हो, यह मेरी अंतिम विनती है।

राणा—क्या प्रतापसिंह ने कभी तुम्हारी बात टाली है?

भामाशा—तो अन्नदाता, एक बेर फिर मेवाड़ की ओर घोड़े की बाग मोड़ी जाय। इस दास के पास जो पचीसों लाख रुपये की संपत्ति दरबार की दी हुई है उसी से फिर एक बेर सेना एकत्र की जाय। और एक बेर फिर मेवाड़ की रक्षा का उद्योग किया जाय। जो इसमें कृतकार्य हुए तो ठीक ही है, नहीं तो फिर जहाँ स्वामी वहीं सेवक, जहाँ राजा वहीं प्रजा।

[राणा सरदारों की ओर देखते हैं]

भामाशा—आप इधर-उधर क्या देखते हैं! अरे यह धन क्या मेरा या मेरे बाप का है? यह सभी इन्हीं चरणों के प्रताप से है। मैं तो अगोरदार था, अब तक अगोर दिया, अब धनी जानें और उनका धन जाने।

कविराज—धन्य मंत्रिवर, धन्य! यह तुम्हारा ही काम था—

जेहि धन हित संसार बन्यो बौरो सो डोलै।
जेहि हित वेचत लोग धर्म अपुने अनमोलै॥
जो अनर्थ को मूल, सूल हिय में उपजावै।
पिता-पुत्र, पति-पत्नि, अनुज सों अनुज छुड़ावै॥
सो सात-पुरुष-संचित धनहि तृण-समान तुम तजत हो।
धनि! स्वामिभक्त मंत्रीप्रवर, ताहू पै तुम लजत हौ॥

[बहुत से राजपूतों और भीलों का कोलाहल करते हुए प्रवेश ।]

सब—महाराज, हम लोगों को छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं ? चलिए एक बेर और लौट चलिए। जब हम सब कट मरें तब आपका जिधर जी चाहे पधारें ।

राणा—जो आप लोगों की यही इच्छा है तो और चाहिए क्या ?

चलो चलो सब बीर आजु मेवार उबारैं ।
अहो आज या पुण्यभूमि तें शत्रु निकारैं ॥
चिर स्वतंत्र यह भूमि यवन-कर सों उद्धारैं ।
हिंदू नामहिं थापि धर्म-अरिगनहिं पछारैं ॥
नभ भेदि आजु मेवार पै उड़ै सिसोदिय-कुल-ध्वजा ।
जा सीतल छाया के तरें रहै सदा सुख सों प्रजा ॥

(चारों ओर से "महाराणा की जय", "हिंदूपति की जय" आदि पुकारते हुए लोग उमंगपूर्वक कूदते उछलते हैं ।)

(पटाक्षेप)

स्थान—दिल्ली, शाही महल

[अकबर और खानखाना]

अकबर—उदयपुर से तो निहायत ही मनहूस खबर आई है। राणा के वफादार वजीर ने अपनी पुश्तहा-पुश्त की कमाई दौलत बेदरेग राणा को दे दी है। सुना है, उसके पास इतनी दौलत है जिससे वह पचीस हजार फौज की बारह बरस तक परवरिश कर सकता है। शाबाश उसकी दरिया-

दिली और वफादारी को, आफरीं है उसके हुब्बेवतनी और बेदार-मगजी को। क्या दुनिया में भी ऐसे लोग हैं ?

खानखाना—और सुना है, प्रताप बड़े जोश के साथ फौज मुहय्या कर रहा है और जंगजू राजपूत व भील बराबर आते जाते हैं।

अकबर—वाह रे प्रतापसिंह, मैंने भी बहुत सी तवारीख देखी हैं मगर इसकी मिसाल मुझे कोई न मिली। शाबाश, गजब का बहादुर और गजब का जफाकश है!

खानखाना—मगर खुदावंद, मेरी यही इल्तिजा है कि ऐसे शख्श को अब जियादा तकलीफ न दी जाय। हुजूर, ऐसे बहादुर शख्श को सताना नाजेबा है।

अकबर—दिल तो हमारा भी यही चाहता है कि अब प्रतापसिंह को बाकी जिंदगी आराम से काटने दें। राजा पृथ्वीराज आते हैं, देखें, इनके पास राणा का जवाब क्या आया है।

[पृथ्वीराज का प्रवेश]

अकबर—आइए राजा साहब, तशरीफ रखिए। कहिए उदयपुर से कुछ जवाब आया ?

पृथ्वीराज—हाँ जहाँपनाह, राणाजी लिखते हैं "मैंने कभी संधि की प्रार्थना नहीं की, मेरी यदि कोई प्रार्थना है तो यही कि अकबर स्वयं युद्धस्थल में आवें। एक हाथ में उनके तलवार हो और एक में हमारे, तब हमारा जी भर

जाय। वे क्या वहाँ से बैठें बैठे लड़कों को तथा अपने साले-ससुरों को भेजते हैं! हम क्या इन पर शस्त्र चलावें?"

अकबर—ठीक है, बहादुर प्रतापसिंह जो कुछ कहे सब बजा है। ये कलमें उसी को जेबा हैं।

खानखाना—अब तो जहाँपनाह मेरी इल्तिजा कुबूल हो और प्रतापसिंह पर बखशिश की निगाह मबजूल हो।

अकबर—नवाब साहब, अगर आप लोगों की यही राय है तो मुझे कोई उज्र नहीं है, शहबाजखाँ को लिख भेजिए वापस चले आएँ।

पृथ्वीराज—(स्वगत) धन्य गुणग्राहकता, यह अकबर ही के हृदय का काम है।

[एक चोबदार का प्रवेश]

चोबदार—(जमीन छूकर सलाम करके) जहाँपनाह, उदयपुर से एक सिपाही आया है।

अकबर—फौरन् हाजिर लाओ।

[घबराए हुए एक मुसलमान सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—(जमीन छूकर सलाम करके) खुदावंद, बड़ा गजब हुआ, राणा ने उदयपुर फिर दखल कर लिया।

अकबर—सब सरगुजश्त जल्द बयान कर जाओ।

सैनिक—आलीजाह, परताप मुतवातिर शिकस्त खाते खाते शिकस्त:दिल होकर अरवली की सरहद छोड़कर भागने की फिक्र में हुआ। हम लोगों को इतमीनान हुआ कि अब

मेवार वे-खरखशः हो गया, मगर इतने ही में उसके वजीर ने उसे बहुत सी दौलत की मदद दी और वह एकाएक बड़ी फौज इकट्ठा कर हम लोगों पर टूट पड़ा, सिपहसालार शह-बाजखाँ की फौज को टुकड़े टुकड़े काट डाला, अबदुल्लाखाँ और उसकी फौज बिलकुल मारी गई। गरीबपरवर! हम लोगों पर मुतवातिर ३२ हमले किए गए। करीब करीब तमाम मेवार इस वक्त दुश्मनों के कब्जे में है। सुना गया है कि अंबर तक राना चढ़ गया और मालपुरा का बाजार लूट ले गया। मैं किसी तरह जान बचाकर हुजूर को खबर देने आया। नहीं मालूम और लोगों की क्या हालत है।

अकबर—(क्रोधपूर्वक खानखाना से) कहिए अब आप क्या फरमाते हैं ?

खानखानां—खुदावंद, प्रताप के लिये तो यह कोई नई बात नहीं है, मगर हुजूर का हुक्म जो एक मर्तबा जुबान मुबारक से निकल चुका, क्योंकर पलट सकता है ?

अकबर—मगर इसमें सख्त बदनामी होगी।

पृथ्वीराज—जगत् विजयी अकबर के उद्दंड प्रताप को कौन नहीं जानता ? प्रताप के मुकाबले अकबर को कौन बदनामी दे सकता है ?

खानखाना—और फिर मेरी अकल नाकिस में तो प्रताप ऐसे बहादुर से दरगुजर करना ऐन फख्र बाइस है, बल्कि उसे सताना ही बदनामी है।

पीछे हजारों आदमी मर गए और हजारों असाध्य रोगों से पीड़ित हो गए। ऐसे लोग देहातियों और कृषकों का उत्तम स्वास्थ्य देखकर दाँतों उँगली दबाते और मन ही मन पछताते हैं। यही नहीं, जो पेशे उन्होंने बहुत अधिक धनप्रद समझकर आरंभ किए थे, उन्हीं से उनकी रोटी तक ठीक ठीक नहीं चलती; और दूसरे कामों को, जिनमें अच्छी आय हो सकती है, वे लोग अप्रतिष्ठा के विचार से आरंभ भी नहीं कर सकते। वहाँ के एक विचारवान् लेखक ने ऐसे लोगों की दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा है कि अगर आप भिन्न भिन्न पेशों और व्यापारों को एक टेबुल में बने हुए भिन्न भिन्न आकार के कोई गोल, और कोई लंबे, कोई तिकोने और कोई चौकोर छेद समझें और आदमियों को उन्हीं सब आकारों के लकड़ी के टुकड़े मानें, तो आप देखेंगे कि चौकोर टुकड़े गोल छेदों में, गोल टुकड़े लंबे छेदों में और लंबे टुकड़े तिकोने छेदों में रखे हुए हैं; अर्थात् एक दूसरे की देखादेखी लोग ऐसे ऐसे कामों में लग जाते हैं जिनके लिये वे कदापि उपयुक्त नहीं होते; और यही उनकी विफलता और विपत्तियों का मूल कारण है।

इच्छा मात्र से ही हमारी योग्यता का कभी ठीक ठीक परिचय नहीं मिल सकता। अधिकांश लोग ऐसे ही होंगे जिनकी इच्छाओं की कभी कोई निर्दिष्ट सीमा ही नहीं होती। हम नित्य-प्रति जिन मनोराज्यों के स्वप्न देखते हैं, वे अवश्य ही बहुत ऊँचे और दूर होते हैं। करोड़पति बनने की हमारी इच्छा

मात्र ही इस बात का पूरा प्रमाण नहीं है कि हम वास्तव में करोड़पति बनने के योग्य हैं अथवा किसी समय बन जायँगे। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किसी महाकवि के दो-एक काव्य पढ़कर ही स्वयं महाकवि बनने के स्वप्न देखने लगते हैं। पर वे कभी इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते कि काव्य में थोड़ी गति या रुचि हो जाने अथवा केवल थोड़े से नीरस पदों की रचना कर लेने से ही मनुष्य सफलता के शिखर पर नहीं पहुँच सकता; और वास्तव में महाकवि बनने के लिये हजारों बड़े-बड़े ग्रंथों का ध्यानपूर्वक मनन करने के अतिरिक्त किसी विशिष्ट दैवी गुण की भी आवश्यकता होती है। यदि हम थोड़े बहुत जोश के साथ किसी काम में लग जायँ तो इतने से ही हमें यह न समझ लेना चाहिए कि हम उसमें सफलता प्राप्त ही कर लेंगे। जब तक हम अपनी सारी शक्तियों से उस काम में न लगें, तब तक हमें सफलता की कोई आशा नहीं रखनी चाहिए। इसी लिये केवल इच्छा को ही योग्यता समझ लेना बड़ी भारी भूल है। यदि हमारी इच्छा बलवती होकर कार्य्य रूप में परिणत हो जाय, हम उसमें सफलता प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लें, अपनी सारी शक्तियों से और अध्यवसायपूर्वक उस काम में लग जायँ और उसे बिना पूरा किए न छोड़ने का दृढ़ संकल्प कर लें, तभी हम सफलमनोरथ होने की आशा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिये उत्कट इच्छा,

दृढ़ संकल्प, पूर्ण अध्यवसाय और वास्तविक योग्यता की आवश्यकता होती है।

अपने जीवन के उद्देश्य स्थिर करने के समय हमें इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि वे सत्यनिष्ठ मनुष्य के अयोग्य अथवा अनुपयुक्त न हों। यदि हम अपनी आकांक्षाओं और उद्देश्यों को पूरा करने के लिये अनुचित और उचित सभी उपायों का अवलंबन करने लग जायँ, तो मानो हम आत्म-प्रतिष्ठा, सत्यता आदि गुणों को तिलांजलि दे देते हैं और ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का बड़ा बुरा उपयोग करते हैं। अपने आपको बड़ा भारी व्यापारी और कमाऊ समझनेवाले एक भले आदमी ने एक बार एक मित्र से अपने व्यापार के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए कहा था—"मैं किसी राह चलते भले आदमी को देखकर उसके पाँचों कपड़ों पर हाथ डालता हूँ और उनमें से दुपट्टा, टोपी, रूमाल आदि जो कुछ मिल सके, ले लेने की चेष्टा करता हूँ। यदि वह होशियार हो और बचकर भागना चाहे तो मैं उसके अंगे का बन्द ही लेकर सन्तुष्ट हो जाता हूँ। यदि कुछ भी न मिले तो भी मैं कभी दुखी नहीं होता; क्योंकि ऐसे व्यापार में हानि की कभी कोई सम्भावना ही नहीं होती।" कैसे श्रेष्ठ और प्रशंसनीय विचार हैं! ऐसे लोग यदि कभी अपनी धूर्तता से हजार दो हजार रुपये जमा भी कर लें तो भी वास्तविक सफलता कभी उनके पास नहीं फटकती। उलटे दिन पर दिन लोग उनकी धूर्तता से अवगत

होते जाते हैं और शीघ्र ही उन्हें अपने कुकर्मों के लिये भारी प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करना पड़ता है। यदि वे बहुत अधिक धूर्त हुए और उनके लिये प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप की नौबत न आई, तो भी उनकी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती; दुष्कर्म उनके हृदय को सदा कचोटते रहते हैं। इनके दुष्कर्मों का संसार के अन्य लोगों पर जो विषाक्त प्रभाव पड़ता है और उनसे देश, समाज और व्यापार आदि को जो धक्का पहुँचता है, वह अलग।

मनुष्य में उच्चकांक्षा होना बहुत ही स्वाभाविक है और इसके लिये कोई उसकी निन्दा नहीं कर सकता; बल्कि वास्तव में निन्दनीय वही है जिसमें उच्चाकांक्षा न हो। पर वह उच्चाकांक्षा सत्य और न्याय के गले पर छुरी फेरनेवाली न होनी चाहिए। सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उन्नति और वृद्धि की इच्छा रखना बुरा नहीं है; पर शुद्ध और संस्कृत आत्मा ऐसी उन्नति को कभी अपना लक्ष्य नहीं बनाती। हमें उचित है कि हम न्यायपूर्वक इस बात का विचार कर लें कि जीवन, परिश्रम, अध्ययन और कार्य आदि का वास्तविक परिणाम क्या होना चाहिए। कोरी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा बहुत ही बुरी और निन्दनीय है। जो मनुष्य ज्ञान, परिश्रम और जीवन के उपयोग आदि का ध्यान नहीं रखता, उसे मनुष्य न समझना चाहिए। सच्चा परिश्रम और प्रयत्न ही हमें वास्तव में मनुष्य बना सकता है, परिणाम या फल का

उतना महत्त्व नहीं है। जो मनुष्य केवल परिणाम के लिये ही लालायित रहता है, वह कभी पूरा पूरा प्रयत्न नहीं कर सकता। उसके विचारों में उच्चता और शुद्धि नहीं हो सकती और इसी लिये मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयों से वह घबरा जाता है। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म का उपदेश करते हुए कहा है—"केवल कर्म्म करना तुम्हारे अधिकार में है; उसके फलाफल पर तुम्हारा कोई वश नहीं। किए हुए कर्मों के फलों की आशा मन में कभी न रखो। साथ ही यह समझकर चुपचाप भी न बैठ जाओ कि संसार में अच्छे फलों का एकदम अभाव है। पूर्ण ईश्वरनिष्ठ होकर अपने कर्त्तव्य करते रहो। यदि कार्य्य सिद्ध हो जाय तो भी वाह वाह और न सिद्ध हो तो भी वाह वाह। यश और अप-यश को समान समझना ही ईश्वरनिष्ठा है। फल की इच्छा रखकर कोई काम करना बहुत ही बुरा है; और जो लोग ऐसा करते हैं, वे क्षुद्र हैं।" वास्तव में यश और अपयश की कुछ भी परवा न करके अपना कर्त्तव्य बराबर पालन करते जाना ही सबसे अधिक बुद्धिमत्ता है।

कभी कभी बहुत छोटी और तुच्छ बातों से भी मनुष्य का सारा जीवन उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार एक छोटी सी चिनगारी से सारा शहर। थोड़ी सी जल्दबाजी, नासमझी या सुस्ती से बहुत कुछ अनर्थ हो सकता है। छोटे से छोटे दोष या रोग को भी कभी उपेक्षा की दृष्टि से न देखना

चाहिए और उन्हें यथासाध्य शीघ्र समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज हम जिस दोष को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है, वही कुछ दिनों बाद हमारे लिये बड़ा घातक हो सकता है; और उस समय उससे पीछा छुड़ाना भी हमारी सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। आज यदि हम थोड़ा सा ऋण ले लें तो कल हमें और भी भारी रक़म लेने का साहस हो जायगा और चार दिन बाद उसकी कृपा से हमारी सारी संपत्ति नष्ट हो सकती है। इसलिये जहाँ तक हो सके, सब प्रकार के दुर्गुणों और दोषों से बहुत बचना चाहिए।

अपना व्यापार या पेशा निश्चित करने से पहले हमें अपनी वास्तविक रुचि और शक्ति का पता लगा लेना चाहिए। सम्भव है कि गृह-शिक्षा, मित्रों के आचरण, परिस्थिति अथवा अन्य ऊपरी बातों का हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़े और उसके कारण हम अपने उचित पथ से हटकर दूर जा पड़ें। कभी कभी इन कारणों से मनुष्य की वास्तविक रुचि बहुत कुछ दब जाती है। जिस प्रकार प्रात:काल से ही दिन का पता लग जाता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था से ही मनुष्य के सम्बन्ध की बहुत सी मुख्य मुख्य बातें जानी जाती हैं। इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह परम आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही वह ऐसी परिस्थिति और साधनों से घिरा रहे जो उसकी मनोवृत्तियों को शुद्ध, उच्च और सबल बनावें और उसमें सरलता, सुजनता, सत्यनिष्ठा और सात्त्विक भावों का आरोपण करें।

मन और वासनाओं को वश में रखने का अभ्यास बाल्यावस्था में ही पूर्ण रूप से हो सकता है, आगे चलकर नहीं। बाल्यावस्था में हृदय अपनी कोमलता के कारण सब प्रकार के सद्-गुणों अथवा दुर्गुणों को ग्रहण करने के लिये सदा प्रस्तुत रहता है। बाल्यावस्था के संस्कार ही युवावस्था में प्रबल रहते और हमारे भावी जीवन के विधाता होते हैं। वृत्तियाँ उसी समय हर तरह के साँचे में ढाली जा सकती हैं। ऐसे महापुरुष बहुत ही कम मिलेंगे जिनका बाल्य-काल का आचरण अपवित्र और दूषित रहा हो। बाल्यावस्था में प्रकृति अनुकरण-प्रिय होती है और आस-पास के लोगों को जो कुछ करते देखती है, उसे तुरंत ग्रहण कर लेती है।

प्रकृति पर प्रभाव डालने के संबंध में एक और बात ध्यान रखने योग्य है। पुरुष मात्र पर जितना अधिक प्रभाव स्त्री-जाति का पड़ता है, उतना और किसी का नहीं पड़ता। इस प्रभाव की प्रधानता उस समय और भी बढ़ जाती है जब माता और पुत्र का संबंध उपस्थित होता है। मनुष्य प्रायः वही बनता है जो उसकी माता उसे बनाना चाहती है। जो शिक्षाएँ हमें माता द्वारा मिलती हैं, वे चिता तक हमारा साथ देती हैं। एक विद्वान् ने बहुत ठीक कहा है—"एक माता सौ शिक्षकों के बराबर है।" राजमाता जिजाबाई ने ही शिवाजी को वास्तविक शिवाजी बनाया था। बिना माता देवलदेवी की शिक्षा के आल्हा और ऊदल को हम उस रूप में नहीं देख सकते थे

जिसमें कि अब देखते हैं। ध्रुव ने अपनी माता के कारण ही इतना उच्च स्थान पाया था। परशुराम से उनकी माता रेणुका ने ही इक्कीस बार क्षत्रियों का विध्वंस कराया था। नेपोलियन, पिट, जार्ज वाशिंगटन आदि सभी बड़े बड़े लोगों ने अपनी अपनी माताओं की बदौलत ही इतनी कीर्ति पाई है। ऋषिकल्प दादाभाई नौरोजी भी सबसे अधिक अपनी माता के ही ऋणी थे।

माता के उपरांत मनुष्य पर दूसरा प्रभाव उसके साथियों का पड़ता है। किसी मनुष्य की वास्तविक योग्यता या स्थिति का बहुत कुछ परिचय उसके साथियों की योग्यता और स्थिति से ही मिल जाता है। एक कहावत है—"तुख्म तासीर सोहबत असर"। उत्तम संगति से मनुष्य में सद्‌गुण आते हैं और बुरी संगति से दुर्गुण। प्रसिद्ध फारसी कवि शेख सादी ने एक स्थल पर कहा है—"मैंने मिट्टी के एक ढेले से पूछा कि तुझमें इतनी सुगन्ध कहाँ से आई? उसने उत्तर दिया, यह सुगंध मेरी अपनी नहीं है; मैं केवल कुछ समय तक गुलाब की एक क्यारी में रहा था, उसी का यह प्रभाव है।" उसी कवि ने एक और स्थल पर कहा है—"अगर देवता भी दानवों के साथ रहे तो कपटी और दोषी हो जायगा।" तात्पर्य्य यह कि मनुष्य में स्वयं जिन बातों की कमी हो, उनकी पूर्ति मित्रों द्वारा हो जाती है। इसलिये यदि हममें उत्तम गुणों का अभाव हो और हम उस अभाव की पूर्ति करना चाहें तो हमें उचित है कि

ऐसे लोगों का साथ करें जिनमें वे गुण उपस्थित हों। अपने जीवन को परम पवित्र और आदर्श बनाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि हम सदा ऐसे लोगों का साथ करें जो विद्या, बुद्धि, प्रतिष्ठा और विचार आदि में हमसे कहीं अच्छे हों।

एक पुराने लेखक का कथन है—"जब तुम किसी से मित्रता करना चाहो तो पहले उसकी परीक्षा कर लो; क्योंकि बहुत से लोग बड़े स्वार्थी हुआ करते हैं और आपत्ति के समय कभी काम नहीं आते। + + + + एक सच्चा मित्र बहुत अच्छा सहायक और रक्षक होता है। जिसे सच्चा मित्र मिल जाय, उसे समझना चाहिए कि मुझे कुबेर की निधि मिल गई।" यद्यपि फारसी के प्रसिद्ध कवि सादी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि इस संसार में सच्चा मित्र नहीं मिल सकता; और संभव है कि किसी विशेष आदर्श को देखते हुए उक्त कथन किसी अंश तक सत्य भी हो, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि संसार में बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने अपने मित्रों को घोर विपत्ति के समय पूरा सहारा दिया है, और यथासाध्य सब प्रकार से उनकी सहायता करके उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्त किया है। तो भी ऊपर जो चेतावनी दी गई है, वह सदा ध्यान में रखने लायक है; क्योंकि तुम्हारे जीवन की उपयोगिता बहुत से अंशों में तुम्हारे मित्रों की योग्यता और विचारों पर ही निर्भर करती है। उत्तम गुणोंवाले लोगों से मित्रता करो; तुम्हारा जीवन

भी उत्तम हो जायगा। ऐसे आदमियों को अपना आदर्श और पथ-प्रदर्शक बनाओ जिनका अनुकरण करने में तुम्हारी प्रतिष्ठा हो। जैसे उत्तम या निकृष्ट खाद्य पदार्थों का शरीर पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है, वैसे मन पर अच्छी या बुरी सोहबत का भी असर होता है। सुयोग्य मनुष्य की संगति के कारण लोगों का महत्त्व भी बढ़ जाता है और अनेक अवसरों पर उनके उत्तम गुणों के विकास की बहुत अच्छी संधि मिलती है। यदि रामचन्द्र न होते तो सुग्रीव या विभीषण का इतना महत्त्व कहाँ से बढ़ता? बिना श्रीकृष्ण के सुदामा को कौन पूछता? बिना चाणक्य के चन्द्रगुप्त और बिना चन्द्रगुप्त के चाणक्य की कीर्ति का इतना विस्तार कब संभव था?

भगवान् श्रीकृष्ण और बुद्ध, वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप और शिवाजी, भक्त-कुल-तिलक तुलसी और सूर की जीवन-घटनाओं का विचारपूर्वक अध्ययन करने से हमें जान पड़ेगा कि वास्तव में हमारा जीवन अपेक्षाकृत कितना हीन और तुच्छ है और उसे उन्नत तथा सार्थक करने की हमें कहाँ तक आवश्यकता है। क्या इससे यह शिक्षा नहीं मिलती कि यदि हम अपने जीवन के उद्देश्यों को उच्च बनाना चाहें तो हमें ऐसे श्रेष्ठ लोगों का साथ करना चाहिए जो सदा हमारी उन्नति में सहायक होते रहें और जिनके साथ से हमारी प्रतिष्ठा और मर्य्यादा बराबर बढ़ती रहे? एक आदर्श महान्

पुरुष हमारे लिये संसार-सागर में दीपालय के समान है जो हमें विपत्तिजनक स्थान की सूचना ही नहीं देता, बल्कि हमें सुरक्षित मार्ग दिखलाता है; जो हमें केवल चट्टानें ही नहीं दिखलाता, बल्कि बंदर तक पहुँचा भी देता है। उत्तम विचारों से हृदय प्रकाशित होता है; और उत्तम कार्यों से उसे उन्नत होने में उत्तेजना तथा सहायता मिलती है। इसलिये सदा ऐसे लोगों का साथ करना चाहिए जो हमें ऊपर की ओर उठा सकें; और जिनमें हमें केवल नीचे ढकेलने की शक्ति हो, उनसे सदा दूर रहना चाहिए। एक विद्वान् का कथन है—"संसार में भलाई से ही बहुत सा उपकार हो जाता है। भलाई और बुराई केवल अपने तक ही नहीं रहतीं, बल्कि जिनका उनके साथ संसर्ग होता है, उन्हें भी वह भला या बुरा बना देती हैं। इसकी उपमा तालाब में फेंके हुए पत्थर से दी जा सकती है जो एक के बाद एक, इतनी लहरें उत्पन्न करता और उन्हें बढ़ाता जाता है कि अंत में वे किनारों तक पहुँच जाती हैं।" बुरे मनुष्य का साथ आपको कभी दूसरों का उपकार करने के योग्य नहीं रख सकता। आचरण का सूत्र तो पलीते के समान है। जहाँ तक उसका संसर्ग रहेगा, वहाँ तक उसका प्रभाव बराबर चला जायगा।

अपने जीवन का उद्देश्य स्थिर करने में हमें अनेक प्रकार के कारणों से सहायता मिलती है। कभी कभी तो एक साधारण घटना ही हमारे लिये विस्तृत भाग्य का द्वार खोल

देती है। ऐसी घटना हमारी प्राकृतिक प्रवृत्ति को किसी ऐसे काम में लगा देती है जो हमारे लिये बहुत उपयुक्त होता है। सप्तर्षियों के उपदेश से वाल्मीकि कुछ ही क्षणों में डाकू से साधु हो गए थे। इब्राहीम अहमद बादशाह अपनी लौंडी के इसी कहने पर—"मैं थोड़ी देर इस मसनद पर सोई तो मेरी यह दशा हुई; जो इस पर नित्य सोता है, उसकी क्या दशा होगी ?" अपना सारा राज्य छोड़कर फकीर हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास को उनकी स्त्री के एक ही मर्म्मभेदी वाक्य ने इतना बड़ा महात्मा और कवि बना दिया था। भाग्य-चक्र को पलटने के लिये थोड़ा सा सहारा ही यथेष्ट होता है। पर हममें से अधिकंश न तो ऐसे सहारे की प्रतीक्षा ही कर सकते हैं और न उसकी प्रतीक्षा की कोई विशेष आवश्यकता ही है। जिस काम में हम लगे हैं, वह यदि निंद्य न हो और हमारी प्रवृत्ति उसकी ओर हो, तो हमें अपनी सारी शक्तियों से उसी में लगे रहना चाहिए। हमें कभी पश्चात्ताप करने का अवसर न मिलेगा। जो कार्य्य हमारे सामने उपस्थित है, उसे पूरा करने में सारी शक्तियाँ लगा देना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। ध्यान केवल इस बात का रखना चाहिए कि हमारा यह कार्य्य पवित्र और प्रशंसनीय हो और हम उसमें बराबर ईमानदारी से लगे रहें।

अपने लिये कोई ऐसा काम ढूँढ़ निकालना जिसमें हमें सफलता हो सके, बहुत कठिन नहीं है। हमारी प्राकृतिक

प्रवृत्ति कई प्रकार से अपना परिचय दे देती है। बहुत से लोगों की प्राकृतिक प्रवृत्ति का परिचय तो उनकी बाल्यावस्था में ही मिल जाता है। जो लोग अधिक प्रतिभाशाली होते हैं, उनकी प्रवृत्ति किसी प्रकार दबाए दब ही नहीं सकती। उसी से संबंध रखनेवाले विचार उनके हृदय में आते हैं और उसी के स्वप्न भी वे देखते हैं। जो मनुष्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये दिन-रात चिंता और प्रयत्न करता रहता है, उसके लिये निराश होने का कोई विशेष कारण नहीं है। हाँ, पहले उद्देश्य निश्चित करने में किसी प्रकार का उतावलापन न करना चाहिए। जब एक बार उद्देश्य स्थिर हो जाय, तब शीघ्र ही यह न समझने लग जाना चाहिए कि यह अयुक्त अथवा कष्ट-साध्य है। कुछ लोग जल्दी जल्दी अपना काम बदला करते हैं। फल यह होता है कि वे एक में भी कृतकार्य नहीं होते। अपने पेशे या काम से कभी घृणा न करनी चाहिए। कुछ लोग शारीरिक श्रम अथवा किसी प्रकार की छोटी-मोटी दूकान करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। यह बड़ी उपहासास्पद भूल है। तुम अपने काम को अपना कर्त्तव्य समझकर करो; कर्त्तव्य-पालन से बढ़कर प्रशंसनीय और कोई बात हो ही नहीं सकती। याद रक्खो, परिश्रम कभी मनुष्य का महत्त्व नहीं घटा सकता; केवल मूर्ख ही का परिश्रम महत्त्व घटा सकता है।

—रामचंद्र वर्म्मा

———

(१४) वज्रपात

(१)

दिल्ली की गलियाँ दिल्ली-निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतंक जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उसकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचंड क्रोध किसी भाँति शांत ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।

नादिरशाह दरबार-आम में तख्त पर बैठा हुआ है। उसकी आँखों से जैसे ज्वालाएँ निकल रही हैं। दिल्लीवालों की इतनी हिम्मत कि उसके सिपाहियों का अपमान करें! उन कापुरुषों की यह मजाल! यही काफिर तो उसकी सेना की एक ललकार पर रण-क्षेत्र से निकल भागे थे! नगर-निवासियों का आर्त-नाद सुन सुनकर स्वयं सेना के दिल काँप जाते हैं; मगर नादिरशाह की क्रोधाग्नि शांत नहीं होती। यहाँ तक कि उसका सेनापति भी उसके सम्मुख जाने का साहस नहीं कर सकता। वीर पुरुष दयालु होते हैं। असहायों पर, दुर्बलों पर, स्त्रियों पर उन्हें क्रोध नहीं आता। इन पर क्रोध करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। किन्तु निष्ठुर नादिरशाह की वीरता दया-शून्य थी।

दिल्ली का बादशाह सिर झुकाए नादिरशाह के पास बैठा हुआ था। हरमसरा में विलास करनेवाला बादशाह नादिरशाह की अविनय-पूर्ण बातें सुन रहा था; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े थे, पीड़ित प्रजा की रक्षा कौन करे? वह सोचता था, मेरे मुँह से कुछ निकले, और यह मुझी को डाट बैठे, तो?

अंत को जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुँच गई, तो मुहम्मदशाह के वज़ीर से न रहा गया। वह कविता का मर्मज्ञ था, खुद भी कवि था। जान पर खेलकर नादिरशाह के सामने पहुँचा, और उसने यह शेर पढ़ा—

कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी,
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

अर्थात् तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिलाकर कत्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट की। पत्थर में भी सूराख होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है; पाषाण-हृदयों में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया। नादिरशाह ने सेना-पति को बुलाकर कत्लआम बंद करने का हुक्म दिया। एकदम तलवारें म्यान में चली गईं। कातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गए। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

शाम हो गई थी। नादिरशाह शाही बाग में सैर कर रहा था। बार बार वही शेर पढ़ता और झूमता था—

कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

(२)

दिल्ली का खजाना लुट रहा है। शाही महल पर पहरा है, कोई अन्दर से बाहर, या बाहर से अन्दर आ जा नहीं सकता। बेगमें भी अपने महलों से बाहर बाग में निकलने की हिम्मत नहीं कर सकतीं। महज खजाने पर ही आफत नहीं आई हुई है, सोने-चाँदी के बरतनों, बेश-कीमत तस्वीरों और आराइश की अन्य सामग्रियों पर भी हाथ साफ किया जा रहा है। नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ हीरे और जवाहिरात के ढेरों को गौर से देख रहा है; पर वह चीज नजर नहीं आती, जिसके लिये मुद्दत से उसका चित्त लालायित हो रहा था। उसने मुगल-आजम नाम के हीरे की प्रशंसा, उसकी करामातों की चर्चा सुनी थी—उसको धारण करनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है, कोई रोग उसके निकट नहीं आता, उस रत्न में पुत्रदायिनी शक्ति है इत्यादि। दिल्ली पर आक्रमण करने के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ इस रत्न को प्राप्त करना भी एक कारण था। सोने चाँदी के ढेरों और बहुमूल्य रत्नों की चमक-दमक से उसकी आँखें भले ही चौंधिया जायँ, पर हृदय उल्लसित न होता था। उसे तो मुगल-आजम की धुन थी, और मुगल-आजम का वहाँ कहीं पता न था। वह क्रोध

से उन्मत्त हो होकर शाही मंत्रियों की ओर देखता और अपने अफसरों को झिड़कियाँ देता था; पर अपना अभिप्राय खोलकर न कह सकता था। किसी की समझ में न आता था कि वह इतना आतुर क्यों हो रहा है। यह तो खुशी से फूले न समाने का अवसर है। अतुल संपत्ति सामने पड़ी हुई है, संख्या में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसकी गणना कर सके! संसार का कोई भी महीपति इस विपुल धन का एक अंश भी पाकर अपने को भाग्यशाली समझता; परन्तु यह पुरुष जिसने इस धन-राशि का शतांश भी पहले कभी आँखों से न देखा होगा, जिसकी उम्र भेड़ें चराने में ही गुजरी, क्यों इतना उदासीन है? आखिर जब रात हुई, बादशाह का खजाना खाली हो गया, और उस रत्न के दर्शन न हुए, तो नादिरशाह की क्रोधाग्नि फिर भड़क उठी। उसने बादशाह के मन्त्री को—उसी मन्त्र को, जिसकी काव्य-मर्मज्ञता ने प्रजा के प्राण बचाए थे—एकांत में बुलाया और कहा—मेरा गुस्सा तुम देख चुके हो। अगर फिर उसे नहीं देखना चाहते, तो लाजिम है कि मेरे साथ कामिल सफाई का बर्ताव करो। वरना अगर दोबारा यह शोला भड़का, तो दिल्ली की खैरियत नहीं।

वजीर—जहाँपनाह, गुलामों से तो कोई खता सरजद नहीं हुई। खजाने की सब कुंजियाँ जनाबेआली के सिपहसालार के हवाले कर दी गई हैं।

नादिर—तुमने मेरे साथ दगा की है।

वजीर—(त्योरी चढ़ाकर) आपके हाथ में तलवार है, और हम कमजोर हैं, जो चाहे फरमावें; पर इस इलजाम के तसलीम करने में मुझे उज्र है।

नादिर—क्या उसके सबूत की जरूरत है ?

वजीर—जी हाँ, क्योंकि दगा की सजा कत्ल है, और कोई बिला सबब अपने कत्ल पर रजामन्द न होगा।

नादिर—इसका सबूत मेरे पास है, हालाँ कि नादिर ने कभी किसी को सबूत नहीं दिया। वह अपनी मरजी का बादशाह है, और क़िसी को सबूत देना अपनी शान के खिलाफ समझता है। पर यहाँ पर जाती मुआमला है। तुमने मुगल-आजम हीरा क्यों छिपा दिया ?

वजीर के चेहरे का रंग उड़ गया। वह सोचने लगा—यह हीरा बादशाह को जान से भी ज्यादा अजीज है। वह इसे एक क्षण भी अपने पास से जुदा नहीं करते। उनसे क्योंकर कहूँ ? उन्हें कितना सदमा होगा। मुल्क गया, खजाना गया, इज्जत गई। बादशाही की यही एक निशानी उनके पास रह गई है। उनसे कैसे कहूँ ? मुमकिन है, वह गुस्से में आकर इसे कहीं फेंक दें, या तुड़वा डालें। इन्सान की आदत है न कि वह अपनी चीज दुश्मन को देने की अपेक्षा उसे नष्ट कर देना अच्छा समझता है। बादशाह बादशाह है। मुल्क न सही, अधिकार न सही, सेना न सही, पर जिंदगी भर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि कहीं

नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढावे। आह! उसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। खुदा न करे, दिल्ली को फिर यह दिन देखना पड़े।

सहसा नादिर ने पूछा—मैं तुम्हारे जवाब का मुंतजिर हूँ। क्या यह तुम्हारी दगा का काफ़ी सबूत नहीं है ?

वजीर—जहाँपनाह, वह हीरा बादशाह सलामत को जान से ज्यादा अजीज है। वह उसे हमेशा अपने पास रखते हैं।

नादिर—झूठ मत बोलो। हीरा बादशाह के लिये है, बादशाह हीरे के लिये नहीं। बादशाह को हीरा जान से ज्यादा अजीज है—का मतलब सिर्फ इतना है कि वह बादशाह को बहुत अजीज है, और यह कोई वजह नहीं कि मैं उस हीरे को उनसे न लूँ। अगर बादशाह यों न देंगे, तो मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना होगा, तुम जाकर इस मुआमले में उसी नाजुक-फहमी से काम लो, जो तुमने कल दिखाई थी। आह, कितना ला-जवाब शेर था—

कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

(३)

मंत्री सोचता हुआ चला कि यह समस्या क्योंकर हल करूँ ? बादशाह के दीवानखाने में पहुँचा, तो देखा, बादशाह उसी हीरे के हाथ में लिए चिंता में मग्न बैठे हुए हैं।

बादशाह को इस वक्त इसी हीरे की फिक्र थी। लुटे हुए पथिक की भाँति वह अपनी यह लकड़ी हाथ से न जाने देना चाहता था। वह जानता था कि नादिर को इस हीरे की खबर है। वह यह भी जानता था कि खजाने में इसे न पाकर उसके क्रोध की सीमा न रहेगी। लेकिन, सब कुछ जानते हुए भी, वह हीरे को हाथ से न जाने देना चाहता था। अंत को उसने निश्चय किया, मैं इसे न दूँगा, चाहे मेरी जान ही पर क्यों न बन जाय। रोगी की इस अंतिम साँस को न निकलने दूँगा। हाय, कहाँ छिपाऊँ? इतना बड़ा मकान है कि उसमें एक नगर समा सकता है; पर इस नन्हीं सी चीज के लिये कहीं जगह नहीं, जैसे किसी अभागे को इतनी बड़ी दुनिया में भी कहीं पनाह नहीं मिलती। किसी स्वरक्षित स्थान में न रखकर क्यों न इसे किसी ऐसी जगह रख दूँ, जहाँ किसी का खयाल ही न पहुँचे। कौन अनुमान कर सकता है कि मैंने हीरे को अपनी सुराही में रक्खा होगा? अच्छा, हुक्के की फर्शी में क्यों न डाल दूँ? फरिश्तों को भी खबर न होगी।

यह निश्चय करके उसने हीरे को फर्शी में डाल दिया। पर तुरंत ही उसे शंका हुई कि ऐसे बहुमूल्य रत्न को इस जगह रखना उचित नहीं। कौन जाने जालिम को मेरी यह गुड़गुड़ी ही पसन्द आ जाय। उसने तुरंत गुड़गुड़ी का पानी तश्तरी में उँडेल दिया और हीरे को निकाल लिया। पानी की दुर्गंध उड़ी; पर इतनी हिम्मत न पड़ती थी कि खिदमतगार

को बुलाकर पानी फिकवा दे। भय होता था, कहीं वह ताड़ न जाय।

वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ था कि मन्त्री ने आकर वंदगी की। बादशाह को उस पर पूरा विश्वास था; किंतु उसे अपनी क्षुद्रता पर इतनी लज्जा आई कि वह इस रहस्य को उस पर भी न प्रकट कर सका। गुमसुम होकर उसकी ओर ताकने लगा।

मन्त्री ने बात छेड़ी—आज खजाने में हीरा न मिला, तो नादिर बहुत झल्लाया। कहने लगा—तुमने मेरे साथ दगा की है; मैं शहर लुटवा लूँगा, कत्ल-आम कर दूँगा, सारे शहर को खाक-सियाह कर डालूँगा। मैंने कहा—जनावेआली को अख्तियार है, जो चाहें करें। पर हमने खजाने की सब कुंजियाँ आपके सिपहसालार को दे दी हैं। वह कुछ साफ साफ तो कहता न था, बस, कनायों में बातें कर रहा था, और भूखे गीदड़ की तरह इधर-उधर बौखलाया फिरता था कि किसे पावे, और नोच खाय।

मुहम्मदशाह—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ मालूम होता है, गोया किसी शेर का सामना हो। जालिम की आँखें कितनी तुंद और गजबनाक हैं। आदमी क्या है, शैतान है। खैर, मैं भी उसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ हूँ कि इसे क्योंकर छिपाऊँ। सल्तनत जाय, गम नहीं; पर इस हीरे को मैं उस वक्त तक न दूँगा, जब तक कोई मेरी गरदन पर सवार होकर इसे छीन न ले।

वजीर—खुदा न करे कि हुजूर के दुश्मनों को यह जिल्लत उठानी पड़े। मैं एक तरकीब बतलाऊँ। हुजूर इसे अपने अमामे (पगड़ी) में रख लें। वहाँ तक उसके फरिश्तों का भी खयाल न पहुँचेगा।

मुहम्मदशाह—(उछलकर) वल्लाह, तुमने खूब सोचा, वाकई तुम्हें खूब सूझी। हजरत इधर-उधर टटोलने के बाद अपना सा मुँह लेकर रह जायँगे। मेरे अमामे को कौन देखेगा? इसी से तो मैंने तुम्हें लुकमान का खिताब दिया है। बस, यही तय रहा। कहीं तुम जरा देर पहले आ जाते तो मुझे इतना दर्द सर न उठाना पड़ता।

(४)

दूसरे ही दिन दोनों बादशाहों में सुलह हो गई। वजीर नादिरशाह के कदमों पर गिर पड़ा, और अर्ज की—अब इस डूबती हुई किश्ती को आप ही पार लगा सकते हैं; वरना इसका अल्लाह ही बेली है! हिंदुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है, मरहठे, राजपूत, सिख सभी अपनी अपनी ताकतों को मुकम्मिल कर रहे हैं। जिस दिन उनमें मेल-मिलाप हुआ, उसी दिन यह नाव भँवर में पड़ जायगी, और दो-चार चक्कर खाकर हमेशा के लिये नीचे बैठ जायगी।

नादिरशाह को ईरान से चले अरसा हो गया था। वहाँ से रोजाना बागियों की बगावत की खबरें आ रही थीं। नादिरशाह जल्द वहाँ लौट जाना चाहता था। इस समय

उसे दिल्ली में अपनी सल्तनत कायम करने का अवकाश न था। सुलह पर राजी हो गया। संधि-पत्र पर दोनों बादशाहों ने हस्ताक्षर कर दिए।

दोनों बादशाहों ने एक ही साथ नमाज पढ़ी, एक ही दस्तर-ख्वान पर खाना खाया, एक ही हुक्का पिया, और एक दूसरे से गले मिलकर अपने अपने स्थान को चले।

मुहम्मदशाह खुश था। राज्य बच जाने की उतनी खुशी न थी, जितनी हीरे के बच जाने की।

मगर नादिरशाह हीरा न पाकर भी दुखी न था। सबसे हँस हँसकर बातें करता था, मानों शील और विनय का साक्षात् अवतार है।

(५)

प्रातःकाल है; दिल्ली में नौबतें झड़ रही हैं। खुशी की महफिलें सजाई जा रही हैं। तीन दिन पहिले यहाँ रक्त की नदी बही थी। आज आनंद की लहरें उठ रही हैं। आज नादिरशाह दिल्ली से रुखसत हो रहा है।

अशर्फियों से लदे हुए ऊँटों की कतार शाही महल के सामने रवाना होने को तैयार खड़ी है। बहुमूल्य वस्तुएँ गाड़ियों में लदी हुई हैं। दोनों तरफ की फौजें गले मिल रही हैं। अभी कल दोनों पक्ष एक दूसरे के खून के प्यासे थे। आज भाई भाई हो रहे हैं।

नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ है। मुहम्मदशाह भी उसी तख्त पर उसकी बगल में बैठे हुए हैं। यहाँ भी परस्पर प्रेम का व्यवहार है। नादिरशाह ने मुसकिराकर कहा—खुदा करे, यह सुलह हमेशा कायम रहे और लोगों के दिलों से इन खूनी दिनों की याद मिट जाय।

मुहम्मदशाह—मेरी तरफ़ से ऐसी कोई बात न होगी जो सुलह को खतरे में डाले। मैं खुदा से यह दोस्ती कायम रखने के लिये हमेशा दुवा करता रहूँगा।

नादिरशाह—सुलह की जितनी शर्तें थीं, सब पूरी हो चुकीं। सिर्फ एक बात बाकी है। मेरे यहाँ दस्तूर है कि सुलह के वक्त अमामे बदल लिए जाते हैं। इसके बगैर सुलह की कार्रवाई पूरी नहीं होती। आइए, हम लोग भी अपने अपने अमामे बदल लें। लीजिए, यह मेरा अमामा हाजिर है।

यह कहकर नादिर ने अपना अमामा उतारकर मुहम्मदशाह की तरफ बढ़ाया। बादशाह के हाथों के तोते उड़ गए। समझ गया, मुझसे दगा की गई। दोनों तरफ के शूर-सामंत सामने खड़े थे; न कुछ कहते बनता था, न सुनते। बचने का कोई उपाय न था और न कोई उपाय सोच निकालने का अवसर ही। कोई जवाब न सूझा। इनकार की गुंजाइश न थी। मन मसोसकर रह गया। चुपके से अमामा सिर से उतारा, और नादिरशाह की तरफ बढ़ा दिया। हाथ काँप रहे थे, आँखो में क्रोध और विषाद के आँसू भरे हुए थे। मुख पर हलकी सी मुसकिराहट

झलक रही थी—वह मुसकिराहट, जो अश्रुपात से भी कहीं अधिक करुण और व्यथा-पूर्ण होती है। कदाचित् अपने प्राण निकालकर देने में भी उसे इससे अधिक पीड़ा न होती।

(६)

नादिरशाह पहाड़ों और नदियों को लाँघता हुआ ईरान को चला जा रहा था। ७० ऊँटों और इतनी ही बैल-गाड़ियों की कतार देख देखकर उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वह बार बार खुदा को धन्यवाद देता था, जिसकी असीम कृपा ने आज उसकी कीर्ति को उज्ज्वल बनाया था। अब वह केवल ईरान ही का बादशाह नहीं, हिंदुस्तान जैसे विस्तृत प्रदेश का भी स्वामी था। पर सबसे ज्यादा खुशी उसे मुगल-आजम हीरा पाने की थी, जिसे बार बार देखकर भी उसकी आँखें तृप्त न होती थीं। सोचता था, जिस समय मैं दरबार में यह रत्न धारण करके आऊँगा, सबकी आँखें झपक जायँगी, लोग आश्चर्य से चकित रह जायँगे।

उसकी सेना अन्न-जल के लिये कठिन कष्ट भोग रही थी। सरहदों की विद्रोही सेनाएँ पीछे से उसको दिक कर रही थीं। नित्य दस बीस आदमी मर जाते या मारे जाते थे; पर नादिरशाह को ठहरने की फुरसत न थी। वह भागाभाग चला जा रहा था।

ईरान की स्थिति बड़ी भयंकर थी। शाहजादा खुद विद्रोह शांत करने के लिये गया हुआ था; पर विद्रोह दिन दिन उग्र

रूप धारण करता जाता था। शाही सेना कई युद्धों में परास्त हो चुकी थी। हर घड़ी यही भय होता था कि कहीं वह स्वयं शत्रुओं के बीच घिर न जाय।

पर वाह रे प्रताप! शत्रुओं ने ज्योंही सुना कि नादिरशाह ईरान आ पहुँचा, त्योंही उनके हौसले पस्त हो गए। उसका सिंहनाद सुनते ही उनके हाथ-पांव फूल गए। इधर नादिरशाह ने तेहरान में प्रवेश किया, उधर विद्रोहियों ने शाहजादे से सुलह की प्रार्थना की, शरण में आ गए। नादिरशाह ने यह शुभ समाचार सुना, तो उसे निश्चय हो गया कि सब उसी हीरे की करामात है। यह उसी का चमत्कार है, जिसने शत्रुओं का सिर झुका दिया, हारी हुई बाजी जिता दी।

शाहजादा विजयी होकर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मंगलगान की ध्वनि से सब गली और कूचे गूँज उठे।

दरबार सजाया गया। शायरों ने कसीदे सुनाए। नादिर-शाह ने गर्व से उठकर शाहजादे के ताज को 'मुगल-आजम' हीरे से अलंकृत कर दिया। चारों ओर 'मरहबा! मरहबा!' की आवाजें बलंद हुईं। शाहजादे के मुख की कान्ति हीरे के प्रकाश से दूनी दमक उठी। पितृस्नेह से हृदय पुलकित हो उठा। नादिर—वह नादिर जिसने दिल्ली में खून की नदी

बहाई थी—पुत्र-प्रेम से फूला न समाता था। उसकी आँखों से गर्व और हार्दिक उल्लास के आँसू बह रहे थे।

(७)

सहसा बंदूक की आवाज आई—धायँ! धायँ! दरबार हिल उठा। लोगों के कलेजे दहल उठे। हाय! वज्रपात हो गया। हाय रे दुर्भाग्य! बंदूक की आवाजें कानों में गूँज ही रही थीं कि शाहजादा कटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा; साथ ही वह रत्न-जटित मुकुट भी नादिरशाह के पैरों के पास आ गिरा।

नादिरशाह ने उन्मत्त की भाँति हाथ उठाकर कहा—कातिलों को पकड़ो! साथ ही शोक से विह्वल होकर वह शाहजादे के प्राणहीन शरीर पर गिर पड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं का अंत हो गया।

लोग कातिलों की तरफ दौड़े। फिर धायँ धायँ की आवाज आई, और दोनों कातिल गिर पड़े। उन्होंने आत्महत्या कर ली। वे दोनों विद्रोही-पक्ष के नेता थे।

हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है! बालू पर की दीवार तो वर्षा में गिरती है, पर तेरी दीवार बिना पानी-बूँद के ढा जाती है। आँधी में दीपक का कुछ भरोसा किया जा सकता है; पर तेरा नहीं! तेरी अस्थिरता के आगे बालकों का घरोंदा अचल पर्वत है, वेश्या का प्रेम सती की प्रतिज्ञा की भाँति अटल!

नादिरशाह को लोगों ने लाश पर से उठाया। उसका करुण क्रंदन हृदयों को हिलाए देता था। सभी की आँखों से आँसू बह रहे थे। होनहार कितना प्रबल, कितना निष्ठुर, कितना निर्दय, और कितना निर्मम है!

नादिरशाह ने हीरे को जमीन से उठा लिया। एक बार उसे विषाद-पूर्ण नेत्रों से देखा। फिर मुकुट को शाहजादे के सिर पर रख दिया, और वजीर से कहा—यह हीरा इसी लाश के साथ दफन होगा।

रात का समय था। तेहरान में मातम छाया हुआ था। कहीं दीपक या अग्नि का प्रकाश न था। न किसी ने दिया जलाया और न भोजन बनाया। अफीमच्चियों की चिलमें भी आज ठंडी हो रही थीं। मगर कब्रिस्तान में मशालें रोशन थीं—शाहजादे की अंतिम क्रिया हो रही थी।

जब फातिहा खतम हुआ, नादिरशाह ने अपने हाथों मुकुट को लाश के साथ कब्र में रख दिया। राज और संगतराश हाजिर थे। उसी उक्त कब्र पर ईंट-पत्थर और चूने का मजार बनने लगा।

नादिर एक महीने तक एक क्षण के लिये भी वहाँ से न हटा। वहीं सोता था, वहीं राज्य का काम करता था। उसके दिल में यह बैठ गई कि मेरा अहित इसी हीरे के कारण हुआ। यही मेरे सर्वनाश और अचानक वज्रपात का कारण है।

———

—प्रेमचंद

(१५) साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसंपन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलंबित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्म्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का, प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निस्संदेह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल

सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य है! अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिये उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसंपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रांत है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी

करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों, तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडंबर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानि-कारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य

मुर्दों को भी जिंदा करनेवाली संजीवनी औषधि का आकर है; जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अँगरेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मंद जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिरकाल तक

फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परंतु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा

सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

———

(१६) ममता

रोहतास-दुर्ग के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिए वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति में मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिये कुछ अभाव होना असंभव था, परंतु वह विधवा थी,—हिंदू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडंबना का कहाँ अंत था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिये क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गए। ऐसा प्रायः होता पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिंता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आए। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिए हुए खड़े थे; कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता

ने घूमकर देखा। मंत्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गए।

ममता ने पूछा—"यह क्या है पिताजी ?"

"तेरे लिये बेटी! उपहार है।"—कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण! यह कहाँ से आया ?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिये है।"

"तो क्या अपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिताजी! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामंत-वंश का अंत समीप है। बेटी, किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिये बेटी!"

"हे भगवन्! तब के लिये! विपद के लिये! इतना आयोजन! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई हिंदू भूपृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? यह असंभव है। फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अंधा बना रही है।"

"मूर्ख है"—कहकर चूड़ामणि चले गए।

× × × ×

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मंत्री चूड़ामणि का हृदय धकधक करने लगा वह अपने को रोक न सका। उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खिंचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी, कोष, सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग-भर में फैल गए पर ममता न मिली।

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न-चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिये पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते···"

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मंद प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बंद करना चाहा। परंतु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिए।"

"तुम कौन हो ?"—स्त्री ने पूछा।

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से !"—स्त्री ने अपने ओठ काट लिए।

"हाँ, माता !"

"परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिंब, तुम्हारे मुख पर भी है ! सैनिक ! मेरी कुटी में स्थान नहीं। जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ इतना !"—कहते कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई ! उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—"सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी !"—घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—"माता ! तो फिर मैं चला जाऊँ ?"

स्त्री विचार कर रही थी—"मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिए। परंतु यहाँ···नहीं, नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परंतु यह दया तो नहीं···कर्त्तव्य करना है। तब ?"

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल! नहीं, तब नहीं स्त्री! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा! जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा—"यहाँ कौन दुर्ग है! यही झोपड़ी न; जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों न छोड़ दूँ?" मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुखमंडल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोपड़ी में विश्राम किया।

× × × ×

प्रभात में खँडहर की संधि से ममता ने देखा, सैंकड़ों अश्वारोही उस प्रांत में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरज़ा! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रांत गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिये

अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरजा! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में वहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।"—इसके बाद वे चले गए।

× × × ×

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गए। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिये गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ उसे घेरकर बैठी थीं; क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई!"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल; पर एक दिन इसी झोपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था, मैं आजीवन अपनी झोपड़ी खोदवाने के डर से भीतर ही थी! भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल—मैं अपने चिर-विश्रामगृह में जाती हूँ!"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पत्ती अनंत में उड़ गए।

× × × ×

वहाँ एक अष्टकोण मंदिर बना और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुंबी मंदिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

—जयशंकर 'प्रसाद'

———

(१७) सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जमता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद वरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कुएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्ट-कूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कुएँ में गिरने

के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उस उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है, जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें से छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूर-

सागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वत: पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती; केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरसागर में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब वह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है। न पीने पर उसे

चोटी बढ़ाने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिये रोते देख थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के लिये भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल्य चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे व्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी

अन्य कवि को नहीं मिला। ब्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का ब्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदम के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोग-लीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं।

यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालिय-दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे स्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सब को बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान्य भाव बराबर बना रहा है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टि-कूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति, तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सार्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्णभक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं।

सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परन्तु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परंतु दोनों की वाणी में पूत भावनाएँ एक सी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोक-कल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। हम तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, पर सूरदास

के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

—श्यामसुंदरदास

---

(१८) कवित्व

(१)

कवित्व संसार में बड़ा ही सुंदर है। स्वर्ग की अप्सराएँ, नंदन-वन के पारिजात, पूर्णिमा का चंद्र सुंदर कहे जाते हैं; किंतु कवित्व के सामने इन सबकी सुंदरता अकिंचित्कर है। वसंत ऋतु की मलयानिल, प्रातःकाल का दिङ्-मंडल, संध्या का अरुणित आकाश भी सुंदर कहे जाते हैं; किंतु क्या वे कवित्व की सुंदरता की समता कर सकते हैं।

कवित्व को सुंदर कहना कवित्व का अनादर करना है। कवित्व ही समस्त सुंदर वस्तुओं का मूल है। कवित्व ने ही सुंदर को सुंदरता दी है। सौंदर्य-संसार में कवित्व ही सबसे ऊँचा है। संसार भर में कवित्व ही का राज्य है। अच्छे को बुरा करना, बुरे को अधिक बुरा करना; अथवा अधिक बुरे को अधिक अच्छा करना—घुमा-फिराकर, उलट-पुलटकर, बुरे को बुरा और भले को भला कहना एकमात्र कवित्व का ही काम है। भगवान् ने उसे सब कुछ करने की शक्ति दी है।

कवित्व अंधकार में दीपक है; कवित्व दरिद्र का धन है; कवित्व भूख में अन्न और प्यास में शीतल जल है। कहाँ तक कहें, वह दुःख में धैर्य्य और विरह में मिलन है। आज

इसी कवित्व की कथा मैं लिखने बैठा हूँ; इसी से मन अलौकिक आनंद में है।

कवित्व की दया और उसकी प्रीति से सामान्य मनुष्य भी अमर हो जाता है, इसी से कवित्व की उपासना करने और उसे श्रेष्ठता देने को कौन न उद्यत होगा।

(२)

कवित्व इतना अच्छा मनुष्य है; किंतु उसका जीवनचरित नहीं है। जीवनचरित लिखने की कोई सामग्री भी नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान कवित्व को 'मनुष्य' कहने में हिचकते हैं। हिचकने दो; किंतु मैं तो उसको एक असाधारण मनुष्य—एक महापुरुष, एक आदर्श पुरुष—समझता हूँ। पाठक! मैं जो कुछ समझता हूँ, ठीक उसी प्रकार, आपको परिचय भी दूँगा। बड़ी कठिनाई से आज मैं कवित्व की थोड़ी सी जीवनी लिखने बैठा हूँ। बहुत कुछ खोज-खाज करने पर भी मैं अब तक इसका जन्म-समय निश्चित नहीं कर सका। बहुत पहले, अथवा यों कहिए कि लाखों वर्ष पहले, उसका जन्म हुआ है, इसमें संदेह नहीं।

कवित्व की जन्म-भूमि कहाँ है? मृत्युलोक अथवा देवलोक, सो कुछ ठीक नहीं। ठीक है केवल यह कि कवित्व एक बड़ा प्रभावशाली, सर्व-जन-प्रिय चक्रवर्ती राजा है। बचपन में उसे शत्रुओं के हाथ से बड़े बड़े दुःख झेलने पड़े हैं।

अनेक बार उसका जीवन संकट में पड़ा है। भाषा का अभाव ही उसका प्रधान शत्रु है। आधुनिक पंडितों ने अनुसंधान से यही निश्चय किया है कि कवित्व उस समय निःसहाय था। शत्रु का दमन करने में वह उस समय सफलीभूत नहीं हुआ। उस समय कौन जानता था कि एक समय यही कवित्व दिग्विजयी सम्राट् हो जायगा। कौन जानता था कि अभागे जगत् का यही कवित्व जीवन-सर्वस्व होगा। यही कवित्व आगे संसार में श्रेष्ठासन पर बैठ, देवों तथा मानवों के हृदय का पूजोपहार ग्रहण करेगा; यह बात तब किसी के स्वप्न में भी न आई थी।

निःसहाय होने पर भी कवित्व ने बड़ी वीरता दिखलाई। अपने प्रभाव से उसने प्रबल शत्रुओं के हाथ से अपने को भली भाँति बचा लिया; क्योंकि कुछ दिन पीछे एक परम रूपवती सुंदरी ने उत्पन्न होकर कवित्व के प्रबल शत्रु को एक बार ही विध्वंस कर दिया। उस स्त्री का नाम 'भाषा' है।

वीरवर कवित्व, यह हाल पाकर, शत्रु-संहारिणी वीरांगना भाषा से विवाह करने के लिये बहुत ही उत्सुक हुआ। भाषा भी कवित्व के सब गुण सुनकर उसके गले में वरमाला डाल देने को व्यग्र थी। किंतु विधाता का लेख अखंडनीय है। लाख चेष्टा करने पर भी जिस दिन जो होनेवाला है वह उसी दिन होता है। कोई बाधा नहीं; किसी को कुछ आपत्ति भी नहीं; तब भी कितने ही वर्ष बीत गए; किंतु कवित्व और भाषा की

आशा पूरी न हुई। भाषा और कवित्व का पाणिग्रहण न हुआ। वीरवर कवित्व ने और भी कड़ी प्रतिज्ञा की कि यदि मैं भाषा को न पाऊँ तो अब इस देह को रखूँगा ही नहीं।

विरह बड़ा भयानक रोग है। जिस वीर ने अकेले प्रबल शत्रुओं के संग युद्ध करके जय प्राप्त की, वह भी इसे न जीत सका। यह रोग लगे पीछे बिना सच्ची औषध के कभी नहीं जाता। कवित्व का वह शत्रु नहीं है; किंतु तिस पर भी, वह उसे नहीं छोड़ सका। कवित्व लताओं में शयन करके भी अपने मन को शांति नहीं दे सका। उसके आत्मीय जन उसकी यह अवस्था देख चिंता करने लगे—हाय! जान पड़ता है, अब कवित्व बचेगा नहीं। भगवन्! नहीं जानते कि तुम्हारे मन में क्या है?

(३)

तमसा नदी के तीर पुष्पक वन बड़ा शोभायमान लगता है। प्रातःकाल की मृदु मंद वायु धीरे धीरे बहकर फूलों का चुंबन कर रही है। वायु से लतादि खेल रही हैं। पशु-पक्षी इधर-उधर क्रीड़ा कर रहे हैं। विरही के लिये ऐसा स्थान बड़ा ही दुःखदायी है। दैवेच्छा देखिए; आज बेचारा कवित्व इसी स्थान पर घूमता घूमता आ पहुँचा। स्थान को देखकर उसका हृदय बड़ा कातर हो गया। हाय! इस स्थान पर छोटे पक्षी से लेकर बड़े बड़े पशु तक अपनी पत्नियों के

साथ विहार कर रहे हैं। केवल मैं ही ऐसा अभागा क्यों हूँ? ईश्वर! तुम्हें मेरी दशा पर तनिक दया नहीं आती। कौन दिन होगा जिस दिन मेरा हृदय सुंदरी भाषा के संयोग से शीतल होगा। विरहातुर कवित्व इस प्रकार शोक-सागर में डूबने लगा; किंतु किसी ने उसके प्रति दया न की; किसी ने उसकी ओर झाँका तक नहीं।

ब्राह्मण बड़े दयार्द्र होते हैं। उनकी दया ने सारा संसार जीता है। ब्राह्मण या ऋषियों की दया न होने से जगत् एक बार ही अंधकार में धँस जाता। कवित्व का शोक देखकर दयावान् ब्राह्मणों से न रहा गया। उन्होंने उसकी कातरता का वर्णन ऋषिवर वाल्मीकि से किया। शोकातुर कवित्व का वह दुःख किसी ने न समझा। समझा केवल ऋषि वाल्मीकि ने। उन्होंने उसकी सब इच्छा समझ ली। प्रेमिक-श्रेष्ठ कवित्व के हृदय में जो नैराश्य की अग्नि जल रही थी, उसको उन्होंने ठीक ठीक समझ लिया। महात्मा का दयावान् हृदय कवित्व की कातरता से पिघल गया। उन्होंने अति शीघ्र भाषा और कवित्व के विवाह का योग जुटा दिया। तदुपरांत उस महात्मा ने कवित्व-समागम के लिये उत्सुक भाषा को लाकर, विरहातुर, मर्म-पीड़ित, कवित्व के हाथ में, शुभ समय में, समर्पण किया। भाषा आनंद से प्रफुल्लित हो गई। अपनी मनोकामना पूरी होने की प्रसन्नता से कवित्व कृत-कृत्य हो गया। महात्मा वाल्मीकि उस भाग्यशाली मधुर मनोहर-

वेशी दंपति को लेकर सबके सामने उपस्थित हुए। सब लोग आश्चर्य से उन्हें देखने लगे। महात्मा ने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

दिग्दिगंत में कोलाहल हो उठा। स्वयं ब्रह्मा उस स्थान पर आए; और वाल्मीकिजी की, इस काम के लिये, उन्होंने सधन्यवाद प्रशंसा की।

(४)

संसार विचित्र है। एक ओर प्रकाश, दूसरी ओर अंधकार; एक ओर धूप, दूसरी ओर मेघ; एक ओर आनंद, दूसरी ओर विषाद—संसार की गति यही है; इसी से उसी संसार में, एक ओर सर्व-पूजित श्रेष्ठ कवित्व, और दूसरी ओर सर्व-घृणित मिथ्या। कवित्व सुंदर, मिथ्या कुत्सित। कवित्व की प्रशंसा सब जगह; मिथ्या की निंदा सब जगह। कवित्व सर्वत्र सम्मानित; मिथ्या सर्वत्र असम्मानित; इसी से मैं कहता हूँ—'संसार विचित्र है'।

कवित्व ने एक दिन इसी बेचारी दुःखिनी मिथ्या को दूर से देखा। दुःखिनी का दुःख देख उसको दया आ गई। मिथ्या मारी मारी फिरती है। कितने मनुष्य उसके ऊपर धूल और पत्थर फेंक रहे हैं। कितने अकथ्य भाषा में गाली बक रहे हैं। कितने कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। मिथ्या यदि

घूमते घूमते किसी के निकट जाकर आश्रय चाहती है तो वह उससे नाक-मुँह सिकोड़ दस हाथ दूर भागता है। कोई कोई कार्यवश उसको लेता भी है; किंतु फिर भी उसका अपमान होता है। शरणार्थिनी मिथ्या के ऊपर किसी की भी कृपा-दृष्टि न हुई। जो लोग मिथ्या का पक्ष करते हैं, मनुष्य-समाज में वे ही निंदित होते हैं।

यही सब देख-सुनकर कवित्व कहने लगा—अहा! जगत् में इस मिथ्या के समान और कोई हतभागिनी स्त्री न होगी। सब के पैरों से कुचली हुई, अनेक दोषों से दूषित इस रमणी के लिये कोई भूलकर भी दया प्रकाश नहीं करता। भगवन्! इस पतिता का क्या किसी प्रकार उद्धार नहीं हो सकता?

बहुत चिंता कर अंत में कवित्व ने मिथ्या का पाणिग्रहण करना ही स्थिर किया। उसके साथ विवाह करने से मिथ्या के दोष सब प्रकार से परिशोधित हो जायँगे, यही विश्वास करके वह मिथ्या के साथ विवाह करने को उद्यत हुआ। इस बार कवित्व को विवाह करने के लिये उतनी उत्कंठा नहीं सहनी पड़ी।

मिथ्या के साथ कवित्व का विवाह हो गया। इस विवाह के भी आचार्य्य वही महात्मा वाल्मीकि हुए। समाज में अनेक प्रकार के ऐसे विवाह होते हैं; इसी से इस काम के लिये, किसी को दोष नहीं दिया गया। कवित्व ने यथार्थ में बेचारी मिथ्या का उद्धार किया। कवित्व-सहचारिणी मिथ्या

जन-समाज में अच्छे प्रकार समादृत होने लगी। कुत्सिता, घृणिता, मिथ्या कवित्व के संयोग से सुंदर हुई। कवित्व ने भी अधिक प्यार के साथ उसका नाम बदलकर 'कल्पना' रख दिया। कल्पना-भाषा-समन्वित कवित्वदेव की घर घर पूजा अब भी होती है। कवि ने यथार्थ कहा है—"काचः कांचन-संसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।"

कवित्व की दोनों ही पत्नियाँ कुछ चंचल हैं। कभी वे दोनों अपने पति का साथ छोड़ कहीं अलग भ्रमण करने लगती हैं। कभी पति के साथ नाना देश, नाना स्थान, देखने को चली जाती हैं।

चंद्र के बिना रात फीकी लगती है। कवित्व के बिना मिथ्या का समादर कैसे होगा? कांचन न होने से हीरे की शोभा कैसे बढ़ेगी! मिथ्या यदि अकेली रहे तो वही पूर्ववत् घृणिता। वह उज्ज्वलवेशी राजमहिषी कल्पना, और यह विकृतवेशी मिथ्या, दोनों एक ही हैं, सो कोई नहीं जान सकता।

मिथ्या जिस समय कल्पना के रूप में महात्माओं के पास से होकर निकलती है उस समय उसका तेज बहुत ही देदीप्यमान हो जाता है। उस समय उसमें कुछ भी क्रूरबुद्धि नहीं रहती; उस समय उसका आदर भाषा से भी अधिक बढ़ जाता है। किंतु वह भाषा के भी वृद्धि-साधन के लिये सचेष्ट रहती है। स्वामी का संग छोड़ने से मिथ्या के दुःख-

भाव का भी कभी कभी परिचय मिलता है। उस समय वह भाषा को नीचा दिखलाती है।

हे कवित्व! हे महापुरुष! यह दुःशीला मिथ्या तुम्हारे ही संसर्ग से रमणीरत्न कल्पना हुई है। इसी से, हे अलौकिक शक्ति-संपन्न देव! तुमको हम लोग पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। तुमने दीन की ओर दया करके उसका कष्ट मोचन किया है। तुमने मनुष्यों का हृदय मिथ्या की ओर से बदल दिया है। अतएव तुम्हें बारंबार नमस्कार है। तुम धन्य हो!

भाग्यवान् कवित्व की और भी दो-एक पत्नियाँ हैं। उनमें से चित्रविद्या मुख्य है। कवित्व सब पत्नियों का प्यारा है। काव्य, आलेख्य प्रभृति उसके पुत्र हैं। कवित्व की दूसरी पत्नी कल्पना संतान के पालन करने में बड़ी चतुर है। इसी से कवित्व की कई संतान उससे ही प्रतिपालित हैं।

कवित्व किसी न किसी स्त्री को साथ लिए बिना बाहर नहीं निकलता। वह भाषा की अपेक्षा मिथ्या को अधिक प्यार करता है। इसी से कवित्व एक दोष से दोषी है।

—चतुर्भुज औदीच्य

---

(१६) श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता

संसार में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, हो रहे हैं और आगे भी होंगे; पर अब तक जो हुए हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ श्रीकृष्ण की तुलना की जा सके। भारत-वर्ष में भगवान् बुद्धदेव जैसे सर्व-संग-परित्यागी धर्मोपदेशक; परिव्राजकाचार्य श्रीमत् शंकराचार्य जैसे धर्म-संस्थापक; राजा हरिश्चंद्र जैसे सत्यवादी; दधीचि जैसे आत्म-त्यागी; शिवाजी जैसे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक स्वराज्य-स्रष्टा; गुरु गोविंदसिंह जैसे धर्म्मवीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए। अन्य देशों में भी ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म-संस्थापक, हैनिबाल जैसे महाप्रतापी दिग्विजयी योद्धा, वाशिंगटन जैसे उदार-चरित्र, अब्राहम लिंकन जैसे परम-निःस्पृह विश्व-बंधु आदि अनेक असंख्य महापुरुष अवतीर्ण हुए; पर इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसका चरित्र श्रीकृष्ण के समान सर्वांगीण हो। कोई धर्म्म-संस्थापक था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई परमभक्त था, कोई विश्व-बंधु था, कोई स्वराज्य-संस्थापक था; पर सब बातें एक साथ किसी में नहीं थीं। इसी लिये श्रीकृष्ण के साथ इनमें से किसी का तुलना नहीं हो सकता। यदि श्रीकृष्ण के साथ तुलना करने के योग्य कोई वैसा ही आदर्श महापुरुष अवतीर्ण हुआ था, तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान्

श्रीरामचंद्र थे, जिनकी कीर्ति आज भी भारत की दसों दिशाओं में व्याप्त है और जिनका घर-घर में गुण-गान होता है; परंतु भगवान् रामचंद्र भी श्रीकृष्णचंद्र के सामने नहीं ठहरते; क्योंकि यद्यपि भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण से संसार को सदाचरण का मार्ग दिखलाकर धर्म-राज्य की स्थापना की थी, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण के समान स्वमुख से धर्मोपदेश नहीं किया था। श्रीकृष्ण ने धर्म-राज्य और धर्मक्षेत्र की स्थापना की। उन्होंने राज्य-क्रांति की और सामाजिक तथा धार्मिक क्रांति भी की। श्रीरामचंद्र की तुलना में श्रीकृष्ण की यही विशेषता है। इसके अतिरिक्त रामचंद्र राज-पुत्र थे और श्रीकृष्ण कारागृह में पैदा हुए थे, गौएँ चरानेवालों में पले थे और सर्वत्र राज्य-क्रांति कराकर आप स्वयं राजा नहीं हुए—बल्कि राज्य-क्रांति कराकर सदा धर्म का उपदेश करते हुए चले गए। उन्होंने धर्म-राज्य की स्थापना की और हिंदू-धर्म का अद्वितीय और सर्व-मान्य ग्रंथ भी निर्माण किया, जो केवल हिंदुस्तान में ही नहीं, आज सारे संसार में पूज्य माना जाता है। आज "श्रीमद्भगवद्गीता" ही हिंदू-धर्म का आधार है और संसार में इसके जोड़ का दूसरा ग्रंथ ही नहीं है। इस बात को पश्चिमी देशों के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। महाभारत-काल के पश्चात् भारत में जिन जिन महात्माओं ने अवतीर्ण होकर हिंदू-समाज की व्यवस्था बाँधी है, उन सबको अपनी व्यवस्था सुस्थिर रखने और उसे सर्व-मान्य कराने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण के इस

अलौकिक ग्रंथ का ही आधार लेना पड़ा है। यही श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता है, जिसके कारण किसी महापुरुष से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

श्रीकृष्ण जिस समय पैदा हुए, उस समय भारतवर्ष में अफगानिस्तान के गांधार (कंदहार) प्रदेश से लेकर प्राग्ज्योतिष याने आसाम तक और काश्मीर से सह्याद्रि-पर्वत-परंपरा के और भी दक्षिण में, बहुत दूर तक, हिंदू-आर्य क्षत्रियों के अनेक छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्य थे और सभी राज्य धन-धान्य-समृद्ध तथा ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए थे। स्थान स्थान में बड़े बड़े नगर और व्यापार-केंद्र थे तथा बड़े बड़े राजप्रासादों, सरोवरों, उद्यानों और क्रीड़ास्थलों से देश परिपूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे, सभी स्वतंत्र थे, पर कोई चक्रवर्ती राजा नहीं था, यद्यपि उस समय मगध देश के राजा जरासंध की धाक सबसे अधिक बैठी थी और यदि कोई राजा किसी को कुछ समझता था, तो जरासंध को ही। जरासंध ने कितने ही राजाओं को अपने यहाँ कैद भी कर रखा था, जिससे सब राजा उससे डरते और उसका लोहा मानते थे। जरासंध ने जो इतने राजाओं को अपने यहाँ कैद कर रखा था, उससे यह मालूम होता है कि जरासंध को अपने बल का बड़ा अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार किया चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए राज्यों में पहली बात जो हम देखते हैं, वह यही है—

अपने बल का गर्व और लोभ। चेदि देश के राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ठ राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान् था, वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्य में ऐसा दुराचार आरंभ किया था कि अपने भोग-विलास के लिये उसने सोलह हजार एक सौ सुंदरी कुमारियाँ चुनकर अपने रंगमहल में ला रखी थीं। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कंस के दरबार में यह अत्याचार दिखाई देता है कि उसने अपने पिता, परम नीतिमान् महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और वह प्रजा पर असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पांचाल देश में कौरव-पांडवों का भयंकर अंतःकलह है। इस अंतःकलह के साथ साथ विलासिता, दुराचार और अमानुषी अत्याचार तथा सत्यानाशी गर्व की मूर्त्तियाँ भी मौजूद थीं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतंत्र हिंदू-राज्यों की ऐहिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी पर इन राजपुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राजपुत्रों का ही चरित्र भ्रष्ट हो, तब प्रजा कहाँ से सुखी हो सकती है? इसी लिये प्रजा को दुःख था और पृथ्वी के लिये यह पाप का बोझ असह्य हो उठा था।

भारत की उस समय राजनीतिक अवस्था क्या थी? यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। अब उस समय की

सामाजिक अवस्था का निरीक्षण कीजिए। राजपुरुषों के चरित्र भ्रष्ट हो रहे थे; पर स्त्रियों में अभी तक धर्म बाकी था। दुर्योधन जैसे पापी, दुष्ट और ईर्ष्यालु की माता और धृतराष्ट्र जैसे नयनों के साथ हिए के भी अंधे की स्त्री गांधारी, पाति-व्रत-धर्म की प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं! धृतराष्ट्र अंधे थे, इसलिये इस साध्वी स्त्री ने भी जन्म भर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी। "पति जब अंधे हैं तब ये नेत्र लेकर मैं क्या करूँगी?" धन्य हो देवी! पातिव्रत-धर्म का ऐसा दृष्टांत भारतवर्ष के इतिहास में ही मिल सकता है। यह सच है कि द्रौपदी के पाँच पति थे पर इससे यह मालूम होता है कि उस समय ऐसी प्रथा रही होगी। आज भी हिमालय के पहाड़ों में रहनेवाली जातियों में ऐसी प्रथा देखने में आती है। परंतु द्रौपदी पतिव्रता थी, इसमें संदेह ही क्या है? उसका पाति-व्रत-धर्म उतना ही ज्वलंत है जितना भगवान् रामचंद्र की अर्द्धांगिनी का या किसी एक-पतिवाली सती स्त्री का। यह उसके पातिव्रत-धर्म का ही प्रताप था जो कौरवों की सभा में भगवान् ने उसकी लाज रखी। पातिव्रत-धर्म के संबंध में उस समय भी वही भाव थे, जो आज हैं, बल्कि यह कहिए कि स्त्रियों का सतीत्व-धर्म ही उस समय हिंदू-समाज की रक्षा कर रहा था। पति के संग जलकर सती हो जाने की प्रथा उस समय भी थी और नकुल-सहदेव की माता, माद्री, अपने पति पांडु के साथ एक चिता पर जलकर पति के पीछे पीछे

स्वर्ग गई थी; परंतु सभी स्त्रियाँ नहीं जलती थीं। वे पति के पीछे भी संसार में रहकर अपना धर्म निवाहती और कर्त्तव्य पालन करती थीं। उस समय स्त्रियाँ शास्त्र समझती और शास्त्र की चर्चा भी करती थीं। पर यह कल्पना रूढ़ हो चली थी कि स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार नहीं है—जैसा कि गीता के एक श्लोक से प्रतीत होता है। क्षत्रिय-राजाओं और राजस्त्रियों के इस वर्णन से उस समय की सर्वसाधारण स्त्रियों की स्थिति का भी अनुमान हो सकता है।

उस समय की परिस्थिति में एक बात विशेष रूप से यह दिखाई देती है कि ब्रह्म-बल से क्षात्र-बल की प्रतिष्ठा अधिक हो चुकी थी। उस समय भी नगर से दूर तपस्वियों और ऋषियों के आश्रम, गुरुकुल और विद्यापीठ थे, जहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय एक साथ रहकर गुरु की सेवा करते हुए वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करते थे। साथ ही गुरु राजा के नौकर होकर भी रहते थे। जिस प्रकार एक ओर सर्वतंत्र-स्वतंत्र सांदीपनी ऋषि का आश्रम था, जहाँ श्रीकृष्ण और सुदामा ने एक साथ विद्या पढ़ी थी, उसी प्रकार हस्तिनापुर की राजधानी में राजा के मातहत रहकर गुरु द्रोणाचार्य राज-पुत्रों को पढ़ाते और एक प्रकार से सेवा-वृत्ति करते थे, जिसके कारण कौरव-पांडव-युद्ध में उन्हें कौरवों का साथ देना पड़ा था। ब्राह्मण इस प्रकार अपने पद से पृथक् हो रहे थे और अनेक ब्राह्मणों ने ब्रह्म-कर्म छोड़, क्षत्रिय-वृत्ति धारण कर ली थी। इसी प्रकार

यादवादि अनेक क्षत्रियों ने क्षात्र वृत्ति छोड़कर वैश्य-कर्म अंगीकार कर लिया था। इससे यह मालूम होता है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भंग होने लगी थी। परंतु यह बात नहीं है कि उस समय धर्मज्ञ ऋषियों और ब्राह्मणों का अभाव हो। सांदीपनी ऋषि का नाम ऊपर आ ही चुका है। भारतकार श्रीकृष्ण द्वैपायन जैसे परम तपस्वी और ब्रह्म-ज्ञानी लोग भी उस समय मौजूद थे। परंतु ये लोग राज-काज आदि सांसारिक कार्यों में दखल नहीं देते थे। ये एकदम निवृत्ति-परायण हो गए थे। इनकी निवृत्ति-परायणता और राजपुत्रों की प्रवृत्ति-परायणता देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय एक तरफ निवृत्ति-मार्ग की पराकाष्ठा थी, तो दूसरी तरफ प्रवृत्ति-मार्ग की। निवृत्ति-मार्ग के लोग संसार को माया समझकर वनवास और संन्यास को ही परम पुरुषार्थ समझते थे और प्रवृत्ति-मार्ग के लोग सांसारिक सुखोपभोग के परे कुछ देखते ही न थे। राजाओं को यह जरूरत नहीं जान पड़ती थी कि हम ऋषि-मुनियों या वेद-वेत्ता ब्राह्मणों से सलाह लें। ब्राह्मणों को भी राज-काज में दखल देना मोक्ष-धर्म के प्रतिकूल मालूम होता था। इस तरह राज-धर्म और मोक्ष-धर्म का परस्पर संबंध ही टूट चुका था। आज जिसे हम पाश्चात्य सभ्यता कहते हैं, जिसका आधार केवल सांसारिक सुख-साधनों की वृद्धि है, उसी सभ्यता के लक्ष्यहीन मार्ग पर यहाँ का राज-वंश चल रहा था। हाँ, कुछ अपनी प्राचीन

सभ्यता के अभिमानी लोग भी थे, परंतु राज्य-सूत्र उनके हाथ में नहीं था। यही नहीं बल्कि राज-काज से उनका जी ऊब गया था और वे सब काम-धाम छोड़कर हरि-नाम में रत हो जाना ही मोक्ष का एकमात्र उपाय मानते थे। उस काल के धर्म-परायण पुरुषों के कैसे विचार थे, वे अर्जुन के मुख से प्रकट होते हैं, जो कहता है कि मुझे राज्य नहीं चाहिए, मैं युद्ध न करूँगा, भिक्षाटन करके रहूँगा और ईश्वर की आराधना करूँगा। इस तरह धर्म-परायण लोग राज-काज को धर्म नहीं समझते थे और राज-काजी लोग धर्म से कोई नाता नहीं रखते थे।

यही तो साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अवस्था थी। वैश्यों का यह हाल था कि वे गौएँ चराते और खेती करते थे; परंतु ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें मोक्ष के अधिकारी नहीं समझते थे। उनकी अवस्था सर्वसाधारण स्त्रियों की सी थी। उनमें शिक्षा का प्रचार नहीं था। वे वेदों और उपनिषदों के गहन तत्त्व नहीं समझ सकते थे। शूद्रों की अवस्था तो और भी खराब थी। एकलव्य के दृष्टांत से यह मालूम हो जाता है कि शूद्रों को धनुर्विद्या का भी अधिकार नहीं था और वे समाज के बाहर ही समझे जाते थे। आर्यों में उनकी गणना नहीं होती थी। इस प्रकार उस समय समाज शृंखला के टुकड़े टुकड़े हो चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जिस समय श्रीकृष्ण पैदा हुए उस समय राज-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में था; चातुर्वर्ण्य-

व्यवस्था बिगड़ गई थी; स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों का मोक्ष का अधिकार भी नहीं माना जाता था; क्योंकि वे सदा संसार में ही रत रहते थे और धर्म-परायण पुरुषों की इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियों का एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राज-काज से अलग हो गए थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों की आत्यंतिक उन्नति हो गई थी। एक ओर अधर्म की प्रबलता थी तो दूसरी ओर धर्म की; पर अधर्म को मारकर धर्म को राजगद्दी दिलानेवाला कोई न था। इसी हेतु को सिद्ध करने के लिये श्रीकृष्ण का अवतार हुआ।

जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस समय सर्व-साधारण लोगों के विलक्षण भाव थे। लोग अधर्म का प्रतिकार यथाशक्ति कर रहे थे। इस काम में आत्मबलिदान की सीमा हो चुकी थी। वसुदेव के छः बच्चों को कंस ने मार डाला था। प्रजा का मन संतप्त और क्षुब्ध था और सब मना रहे थे कि किसी तरह इन अधर्मियों के राज्य का सत्यानाश हो।

भाद्र कृष्ण अष्टमी की रात को, रोहिणी नक्षत्र में आकाश से पर्जन्य-वृष्टि और विद्युल्लता कड़कने के साथ श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। रातों-रात वसुदेव उस बालक को गोकुल में पहुँचा आए। गोकुल में गौओं और गोपों के बीच में उनका लालन-पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव-कुल के अनेक क्षत्रियों ने क्षात्र-वृत्ति छोड़ दी थी; वे वैश्यों का पेशा

करने लगे थे। इस तरह ये गोप वैश्य भी थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरों से दूर स्थानों में ये अपनी गौओं के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, इस तरह बनजारों के समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था, ये सहृदय होते थे, ईश्वर के अस्तित्व में इनका विश्वास था; पर इनमें आर्य-संस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं था। ऐसे लोगों में पलकर श्रीकृष्ण बढ़ने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनों का स्वतंत्र समीर और सरस जीवन का निष्पाप वायु-मंडल—इन बातों ने सुंदर-शरीर-धारी श्रीकृष्ण को निष्कपट प्रेमी और अतुल पराक्रमी बना दिया। बचपन में ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्य के अद्भुत पराक्रम किए। वे गोपों के प्राण थे, और गोप उन पर अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहते थे। गोप मल्ल-विद्या में बड़े प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमें उनके अग्रणी हुए। दिन दिन गोपों और गोपाल का बल बढ़ने लगा। कंस घबरा उठा। उसे सर्वत्र कालरूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जल में, स्थल में, नभ में—सर्वत्र श्रीकृष्ण की काल-मूर्त्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्ण को मारने के लिए कंस ने जाल बिछाया; पर उसमें वह आप ही जा फँसा और अंत में मारा गया।

श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर उसका राज्य स्वयं नहीं लिया। उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठाकर वे आप एक साधारण

प्रजाजन की भाँति अपने माता-पिता के पास मथुरा में रहने लगे। पर मथुरा की इस राज्य क्रांति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण का नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्ण को अपना शत्रु मानने लगे। जरासंध तो आग-बबूला हो उठा; क्योंकि एक तो श्रीकृष्ण के रूप में उसकी अधर्म-पूर्ण सार्वभौम सत्ता के लिये एक नया शत्रु खड़ा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कंस उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसलिये जरासंध ने मथुरा पर चढ़ाई कर दी। मथुरा पर आए हुए इस संकट को टालने के लिये श्रीकृष्ण वहाँ से भाग गए। जरासंध ने मथुरा से अपनी सेना हटा ली और श्रीकृष्ण का पीछा किया। गोमंत-पर्वत पर श्रीकृष्ण ने जरासंध आदि की अपार सेना का जिस वीरता और रण-कौशल के साथ संहार किया, इतिहास में उसका कहीं जोड़ नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् करवीर-राज के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ और उसमें करवीर-नरेश 'शृगाल' मारा गया। यह राज्य भी श्रीकृष्ण ने स्वयं नहीं लिया; बल्कि शृगाल के पुत्र को गद्दी पर बिठाकर आप और आगे बढ़े और एक समुद्र-वेष्टित द्वीप में अपनी छावनी और राजधानी स्थापित की जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण द्वारका के भ स्वयं राजा नहीं हुए। ये सब पराक्रम करके जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा को फिर लौट आए, उस समय मथुरावासियों को यह आशा थी कि श्रीकृष्ण बड़े ठाट-बाट के साथ

आवेंगे, पर श्रीकृष्ण एक साधारण गोप के वेष में ही मथुरा पहुँचे। उनका वह गोप-रूप समस्त राजाओं की समवेत राज्य-श्री से अधिक तेजस्वी और दिव्य था। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने जरासंध का वध कराया; पर वहाँ भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेव को ही राजगद्दी पर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेव को मारकर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इस तरह श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम की सर्वत्र धाक तो बैठा दी; पर राज्य किसी का नहीं छीना। उन्होंने कंस का वध कर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य स्थापित किया। उन्होंने जरासंध का वध कराके राजाओं को कैद से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियों को मुक्त किया, जो श्रीकृष्ण के साथ ही द्वारका में आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान स्थान में राज्य-क्रांति कराने में श्रीकृष्ण का कोई महान् उद्देश्य था—उसमें उनके स्वार्थ का लेश भी नहीं था।

गोमंत से लेकर आसाम तक सारे भारत को एक बार पदाक्रांत करके श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट् निर्वाचित करने का उद्योग किया। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ करने का यही मतलब है। यह राजसूय-यज्ञ करके किसी को चक्रवर्ती राजा मानने की क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिर को वह पद क्यों दिया गया? भारत-व्यापी भिन्न भिन्न राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित

करने का उद्योग प्राचीन काल से होता चला आया है। इस उद्योग को सब लोग एक महान् पुण्य-कर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीति-जिज्ञासु भी समझ सकते हैं। प्रिंस बिस्मार्क ने जिस प्रकार जर्मनी के छोटे छोटे राज्यों को एक करके एक महान् शक्तिशाली जर्मन-साम्राज्य स्थापित किया, श्रीकृष्ण का यह उद्योग भी बाह्यतः उसी प्रकार का था। परंतु इसमें और उसमें बड़ा भारी अंतर इस बात का है कि इसका उद्देश्य धर्म-संस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसी लिये इस राजसूय में चेदि देश के राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजाओं ने पुण्य-कर्म जानकर ही योग दिया था। परंतु युधिष्ठिर ही सम्राट् क्यों माने गए? उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् राजा भी अनेक थे। परंतु युधिष्ठिर के समान धार्मिक, दयावान्, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य-प्रतिज्ञ और सत्य कर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसी से धर्म-रक्षा के लिये किए जानेवाले राजसूय-यज्ञ में धर्मराज का ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य-स्थापन का महान् उद्योग सफल हुआ; पर धर्मराज्य में अभी अनेक विघ्न थे। कंस, जरासंध आदि का वध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पांडवों की धाक जम गई थी, युधिष्ठिर का साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका था; पर भीतर ही भीतर राजाओं के षड्यंत्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारका पहुँचते हैं,

तो क्या देखते हैं कि वहाँ शत्रुओं ने द्वारका पर चढ़ाई करके नगर बरबाद कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से लड़ते हैं, उधर पांडव कौरवों के जाल में फँसते हैं। पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास के लिये चले जाते हैं। श्रीकृष्ण को चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंस को मारा, उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम करने को नहीं मिला। उन्हें नित्य नए शत्रुओं से सामना करना पड़ता है; पर इससे श्रीकृष्ण के उद्देश्य का ही रास्ता साफ होता जाता है।

पांडव चले गए; दुर्योधन युधिष्ठिर के सिंहासन पर बैठा। जब वन-वास और अज्ञातवास समाप्त हुआ, तब पांडव प्रकट हुए और अपना राज्य वापस माँगने लगे। वे कम से कम पाँच ग्राम चाहते थे; पर कौरवों ने नहीं माना। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की; पर कौरवों ने किसी की नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। उस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्ध में क्षत्रियों का जो भयंकर संहार हुआ, उसी को बहुत से लोग भारत की वर्त्तमान अवनति का मूल समझते हैं। पर जिनको ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण-चरित्र के रहस्य को ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध आरंभ होने को था, उसी समय अर्जुन को यह शंका हुई थी कि इस युद्ध का परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय-कुल

नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियाँ व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण-संकर फैलेगा, अधर्म का ही राज्य होगा, फिर धर्म कहाँ रह जायगा? इसी शंका का समाधान करने के लिये श्रीकृष्ण ने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है, जो आज भी धर्म की रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता? कौरवों का ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रों की बुरी दशा थी। धर्म की शोचनीय अवस्था थी। वास्तव में उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राजसिंहासनों पर विराज रहे थे। युद्ध न होता तो इनका नाश न होता और अर्जुन को जिस बात की शंका हुई थी कि युद्ध से क्षत्रिय-कुल का नाश होकर अधर्म का राज्य होगा, वही बात उस समय युद्ध के पहले से हो रही थी और यदि युद्ध न होता, तो वह बात इतनी बढ़ जाती कि धर्म का शायद नाम भी न रह जाता। इसलिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया कि बुद्धिवाद छोड़कर केवल अपने धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करने से अधर्म कदापि नहीं हो सकता। और वही बात हुई। अधर्म में रत क्षत्रिय-राजाओं का युद्ध में नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात-शत्रु और धर्मावतार का साम्राज्य समस्त देश में स्थापित हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन का हमें यही उद्देश्य मालूम होता है।

मिसेज एनी वेसंट ने अपनी "अवतार" नामक अँगरेजी पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत का

ज्ञानामृत सारे संसार को पिलाने के लिये और संसार तथा भारत का अविच्छिन्न संबंध स्थापित करने के लिये श्रीकृष्ण ने ऐसी परिस्थिति निर्माण की, जिससे भारत पर विदेशियों की चढ़ाइयाँ होने लगीं और अंत को भारत में उन लोगों का राज्य हुआ, जो आज यहाँ राज्य कर रहे हैं। इन बड़े बड़े शब्दों के शृंगार से सजाकर मिसेज बेसंट ने यही सीधी-सादी बात कही है कि श्रीकृष्ण का अवतार इसलिये हुआ कि भारत में अँगरेजों का राज्य हो। परंतु यह कथन केवल "मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी" वाली कहावत को ही चरितार्थ करता है। हाँ, इसमें चढ़ाइयों की जो बात लिखी है, वह बहुतों को भ्रम में डाल सकती है और बहुतेरों का ऐसा खयाल हो सकता है कि उस भारतीय युद्ध का ही यह परिणाम हुआ कि इस देश पर विदेशीय सेनाएँ आक्रमण करने लगीं; परंतु यह खयाल बिलकुल गलत है। इसके विपरीत, यदि वह युद्ध न होता, तो उस समय के धर्म-भ्रष्ट राजपुत्र अपने दुराचार, लोभ, परापहार और अंतःकलह से देश को किस गड्ढे में ढकेल देते, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। श्रीकृष्ण ने उन राजपुत्रों का ससैन्य संहार करके धर्म-राज्य की स्थापना की। उस धर्मराज्य का यह प्रभाव था कि सम्राट् युधिष्ठिर के पश्चात् परीक्षित ने कलि को बाँध रखा था; अर्थात् अधर्म से धर्म की रक्षा की थी। यदि श्रीकृष्ण ने भारतीय युद्ध कराकर धर्मराज्य न स्थापित किया होता, तो भारत

का दासत्व-काल आने में देर न लगती। उस युद्ध के बाद ढाई सहस्र वर्ष तक भारत में यवनों के पैर नहीं पड़ सके, यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था। यवनों की चढ़ाइयाँ आरंभ होने के बाद भी दो हजार वर्ष तक भारत के क्षत्रिय-कुल में अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की सामर्थ्य थी—चंद्र-गुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि अनेक अलौकिक पुरुष बराबर अवतीर्ण होकर स्वदेश की रक्षा करते रहे। यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था, जो भारतीय युद्ध के बाद साढ़े चार सहस्र वर्ष तक दिग्दिगंत में भारत की कीर्ति-पताका फहराती रही और दूर दूर देशों के लोग यहीं आकर धर्म की शिक्षा पाते रहे। भारत संसार का शिक्षा-गुरु था। भारत में धर्म था, सत्य था, वीरता थी और ये सब बातें अलौकिक मात्रा में थीं। चीनी यात्री यह सब बातें अपने ग्रंथों में लिख गए हैं। "भारत में उस समय कोई झूठ नहीं बोलता था," यह पढ़कर आज आश्चर्य होता है; पर यह श्रीकृष्ण के उस धर्म-राज्य का ही प्रभाव था।

श्रीकृष्ण-चरित्र की यही केंद्र-घटना है, जिसका यहाँ तक वर्णन हुआ। यही श्रीकृष्ण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अब यह देखिए कि किन साधनों को लेकर श्रीकृष्ण ने यह उद्देश्य सिद्ध किया। महान् उद्देश्य को लेकर जो महान् पुरुष संसार में अवतीर्ण होते हैं, उनमें वैसे ही महान् गुण भी होते हैं—उनका व्यक्तिगत चरित्र इतना उन्नत और दिव्य होता

है कि सारा संसार उनकी ओर खिंच जाता है। श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत चरित्र इतना पवित्र और अलौकिक था कि उनके समकालीन भीष्म जैसे महान् तपस्वी भी उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार मानते थे और दुर्योधन जैसे दुष्टात्मा भी उन्हें निःस्पृह, सत्य-प्रतिज्ञ और परोपकारी महात्मा जानते थे। दुर्योधन श्रीकृष्ण से सहायता माँगने गया था, इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्रीकृष्ण के ऐसे निष्कलंक चरित्र पर लोगों ने दो प्रकार के दोषों का आरोपण किया है। एक दोष तो कपटाचरण का है और दूसरा व्यभिचार का। परंतु ये दोनों ही आक्षेप निर्मूल हैं।

कपटाचरण का जो आक्षेप है, उसका एक आधार द्रोणाचार्य के वध की कथा है। श्रीकृष्ण ने ही अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी खबर उड़ाई और युधिष्ठिर से मिथ्या-भाषण कराया। रण-नीति या कूटनीति के विचार से इसमें कोई निंदनीय बात नहीं हुई। पर इससे श्रीकृष्ण पर मिथ्याभाषी या कपटाचारी होने का दोष नहीं लग सकता, क्योंकि जिस अवस्था में अश्वत्थामा के मारे जाने की अफवाह उड़ाई गई थी, वह अवस्था ऐसी थी कि द्रोणाचार्य स्वयं धर्म-युद्ध के विरुद्ध उन लोगों पर अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे, जो अस्त्र चलाना नहीं जानते थे, और यह स्पष्ट दिखाई देता था कि यदि द्रोणाचार्य का वध न हुआ, तो सारी पांडव-सेना का संहार हो

जायगा। सत्य-भाषण करना तो एक साधारण नियम है और सत्य ही धर्म का आधार है; पर इस नियम में श्रीकृष्ण ने पाँच अपवाद-स्थान माने हैं। इन पाँच अपवाद-स्थानों के अतिरिक्त और किसी स्थान में झूठ बोलना या कपटाचरण करना पाप है। इन पाँच स्थानों में झूठ बोलना धर्म चाहे न हो, पर पाप नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण पर मिथ्या-भाषण या कपटाचरण का आक्षेप नहीं किया जा सकता। यही नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण आदर्श सत्यवादी थे और उनके सत्य के प्रताप से ही उत्तरा का मृत पुत्र फिर से जीवित हो उठा था। श्रीकृष्ण ने एक साधारण मनुष्य की शक्तियों से ही सब काम किए हैं, कहीं अमानुष और अननुभूत शक्ति का प्रयोग नहीं किया। इसलिये उन्होंने अफवाह उड़ाकर द्रोण का वध कराया, पर उनके सत्य का इतना बल था कि उससे अभिमन्यु का बालक जी उठा। इतना लिखने के पश्चात् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती कि श्रीकृष्ण ने जो भीष्मजी को घिरवाकर मरवाया, उसमें भी श्रीकृष्ण ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया, क्योंकि अर्जुन और भीष्म का वह द्वंद्व-युद्ध नहीं था, संहत-संग्राम हो रहा था और संहत-संग्राम में, जहाँ दोनों ओर की सेनाएँ एक दूसरे का केवल संहार कर रही थीं वहाँ कहीं एक वीर ने चार वीरों को मारा तो क्या और चार वीरों ने मिलकर एक को मारा तो क्या, उससे धर्म-युद्ध के नियमों में बाधा नहीं पड़ती। यदि भीष्मजी को

घेरकर चारों ओर से उन पर बाणों की वर्षा करना अनुचित होता, तो पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना के साथ कौरवों का ग्यारह अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध करना और भी अनुचित होता। इसलिये संहत-युद्ध में ऐसी बातों का विचार नहीं किया जाता। शिखंडी को आगे करके पांडव इसी लिये लड़ रहे थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि शिखंडी पर भीष्म बाण नहीं छोड़ेंगे। पर संहत-युद्ध में इसे भी अनुचित नहीं कह सकते।

दूसरा आक्षेप व्यभिचार का है जो बिलकुल ही निराधार है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो वे ऐसे बलिष्ठ न होते, जैसे कि थे। उनके मुखमंडल पर वह अलौकिक तेज न होता, जो कि था। वे कंस की रंग-भूमि में उतरकर चाणूर का मर्दन न कर सकते—धर्मराज्य की स्थापना तो बहुत दूर की बात है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो रुक्मिणी-स्वयंवर के अवसर पर दंतवक्र ने उनके सदाचार की जो प्रशंसा की है, वह न की होती और जरासंध, रुक्मी, शिशुपाल आदि ने वह प्रशंसा चुपचाप न सुन ली होती। उसी प्रकार राजसूय-यज्ञ में जहाँ शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को दुनिया भर की गालियाँ सुनाई हैं, वहाँ तो वह श्रीकृष्ण को व्यभिचारी कहने से कभी न चूकता। कौरवों की सभा में द्रौपदी ने जब द्वारकावासी श्रीकृष्ण का नाम स्मरण किया है, तब उसने कृष्ण को 'महायोगिन्!' 'विश्वभावन!' आदि नामों

से पुकारा है। श्रीकृष्ण व्यभिचारी होते, तो संकट-काल में द्रौपदी को उनका स्मरण न होता और उस स्मरण का कुछ फल भी न होता। इन बातों से यह स्पष्ट है कि यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। बात यह है कि श्रीकृष्ण अत्यंत सुंदर थे और श्रीमद्भागवतकार ने उनकी सुंदरता का वर्णन "स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्" कहकर किया है। संभव है, इसी "मूर्त्तिमान् कामदेव" की कुछ लीला वर्णन करने के लिये कवियों ने श्रीकृष्ण के काम-विलास की कल्पना कर ली हो। परंतु उस काम-विलास में भी यह खूबी है कि वर्णन तो शृंगार का है पर अर्थ उसका वैराग्य है। उदाहरणार्थ, गोपियों का वस्त्र-ग्रहण। ये गोपियाँ जब अपने वस्त्र उतारकर यमुना में नहाने को उतरीं, तब श्रीकृष्ण उन वस्त्रों को लेकर एक पेड़ पर जा बैठे। चित्रकारों ने इस घटना के जो चित्र बनाए हैं वे बिल्कुल अशुद्ध हैं। उन्होंने यह ख्याल नहीं किया कि वे गोपियाँ युवती नहीं, बल्कि कुमारिकाएँ थीं। दूसरी बात यह है कि यह कथा लिखने में श्रीमद्भागवत का कुछ और ही अभिप्राय है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, गोपियाँ जीवात्मा हैं, उनके वस्त्र उनके शरीर हैं और गोपियाँ शरीर छोड़कर भगवान् में लीन हो रही हैं। श्रीकृष्ण की शृंगारलीला में इसी प्रकार सर्वत्र वैराग्य अभिप्रेत है, पर इस गूढ़ रहस्य को न समझने से ही मूर्ख लोग निष्कलंक श्रीकृष्ण पर कलंक आरोपित करते हैं। यथार्थ में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव था, वह अत्यंत पवित्र था।

श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यंत पवित्र और निष्कलंक था। वे प्रेमी थे, रसिक थे और अपनी मधुर मुरली की तान से गोपों, गोपियों और गौओं को रिझाते थे। दीन-दुर्बलों की सहायता और दुष्टों का दमन करना तो उनका बचपन से ही स्वभाव था। खिलाड़ियों के साथ खेलना, हरि का गुण-गान करनेवालों के साथ भजन करना, दुष्टों के साथ लड़ना, सबसे प्रेम करना, ईश्वर-भक्तों को उपदेश देना, दीनों को दान देना, अतिथियों का सत्कार करना, प्रेमियों से प्रेम की बातें करना, यही हँसमुख श्रीकृष्ण का नित्य का कार्यक्रम था। रंगमहल में उनकी जो मधुर मुसक्यान आनंद छा देती थी वही रण-भूमि में भी दिखाई देती थी। श्रीकृष्ण सर्वत्र एकरस थे। दुःख में भी वे हँसते रहते थे। सुख और दुःख उनके लिये बराबर थे। नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वे रण-भूमि में, संग्राम होते रहने की हालत में भी, तोप के पीछे लेट जाते और दो घंटे नींद ले लेते थे। नेपोलियन का जीवन ही युद्ध-जीवन था। युद्ध में ही सोना, युद्ध में ही खाना-पीना, युद्ध में ही सब काम करना—यही उनके जीवन का अभ्यास था। पर श्रीकृष्ण में नेपोलियन की तरह निश्चिंत होकर रण-भूमि में लेटने की ही केवल सामर्थ्य नहीं थी, प्रत्युत उनकी सामर्थ्य तो उससे भी अधिक अलौकिक थी। उनके चित्त में चंचलता का कोई चिह्न ही न था। नेपोलियन को नींद लेने के लिये लेटना पड़ता था, पर श्रीकृष्ण को उसकी

भी जरूरत न थी। वे न तो कभी थकते थे और न उन्हें कभी विश्राम लेने की आवश्यकता पड़ती थी। वे अहर्निश सब कामों के सूत्र चलाते थे, पर चिंता या दुःख का कोई चिह्न उनके चेहरे पर नहीं दिखाई देता था। वे हँसते ही रहते थे। उस हँसी में बड़ी अद्भुत सामर्थ्य थी। घटोत्कच के मारे जाने पर पांडव-सेना में शोक छा गया, पर श्रीकृष्ण हँसते थे और उसी हँसी ने पांडवों का शोक भुला दिया। श्रीकृष्ण शूर थे, तेजस्वी थे, सुंदर थे, सब गुणों के आगार थे; पर सबसे बड़ी बात जो उनमें थी, वह यह थी कि अपनी प्रकृति को उन्होंने जान लिया था; प्रकृति के वे प्रभु थे। वे परम ज्ञानी थे और इसी से लोग उन्हें ईश्वर या ईश्वर का अवतार मानते थे। उनके मुख से निकले हुए वचन को सब लोग ईश्वर का वचन समझते थे और उनके वचन से ही सब काम होता था। उनका वचन कभी मिथ्या न होगा, यह लोगों का दृढ़ विश्वास था, यद्यपि मदांध राजपुत्रों की आँखों पर परदा पड़ा हुआ था, और वे श्रीकृष्ण की योग-माया को नहीं समझ पाते थे। श्रीकृष्ण ने जो धर्म-राज्य स्थापित किया, वह अपने इसी दिव्य और अलौकिक चरित्र के बल पर स्थापित किया।

श्रीकृष्ण का चरित्र जैसा दिव्य था, उस काल की परिस्थिति भी उनके उस दिव्य चरित्र के लिये स्वभावतः ही अनुकूल थी। यह एक महान् ऐतिहासिक तत्त्व है कि जिन लोगों में जैसे महान् पुरुष अवतीर्ण होते हैं, वे लोग भी इतने योग्य

होते हैं कि उन महान् विभूतियों का आदर कर सकें और उनमें पृथक् पृथक् वे सब गुण होते हैं, जिनका समुच्चय उन महान् विभूतियों में रहता है। श्रीरामचंद्र के समय में वानरों में भी भगवद्भक्ति का प्रचार था। गुरु गोविंद सिंह के समय में सभी सिक्ख वैसे ही वीर थे। श्रीशिवाजी के समय में मरहठों में भी वही धर्म-श्रद्धा और शूरता थी। इसी त्रिकालाबाधित नियम के अनुसार श्रीकृष्ण के समय में भी जनता में वे गुण मौजूद थे, जिनका आत्यंतिक उत्कर्ष समुच्चय रूप से श्रीकृष्ण में हुआ था। श्रीकृष्ण के समय में ही श्रीकृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास वर्तमान थे, जिनका लिखा हुआ ग्रंथ पंचम वेद माना जाता है। श्रीकृष्ण के गुरु सांदीपनी ऋषि जैसे तपस्वी, वसुदेव जैसे त्यागी, सुदामा जैसे ब्राह्मण, उद्धव जैसे भगवद्भक्त, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, भीम जैसे पराक्रमी, अर्जुन जैसे वीर और धार्मिक, भीष्म जैसे मृत्युंजय, गांधारी जैसी पतिव्रता स्त्रियाँ, गोप जैसे सरल और श्रद्धालु लोग उसी समय वर्तमान थे, पर हम ऊपर कह आए हैं कि यद्यपि ऐसे ऐसे धार्मिक पुरुष मौजूद थे और जनता में धर्म-भाव भी था, तथापि राज्य-सूत्र जिनके हाथ में थे, वे धर्म के विरोधी थे और इसी का यह परिणाम हुआ था कि धार्मिक जनों का राजकाजी लोगों से बहुत ही कम संबंध रह गया था। यही नहीं बल्कि धार्मिक लोग निवृत्ति-परायण हो रहे थे। निवृत्ति-परायणता धार्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है, पर उसमें यह दोष है कि जब धार्मिक

लोग राजकाज से अलग हो जाते हैं, तब राजकाज का कोई सिरधरू न रहने से राजाओं और राजपूतों में प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती है कि उनकी गति रोकी नहीं जा सकती और परिणाम यह होता है कि ऐसी धर्महीन राजनीति से प्रजा अत्यंत दुःखित होती है। श्रीकृष्ण के समय में ऐसी ही अवस्था हुई थी और इसका प्रतिकार करने का बहुत कुछ प्रयत्न भी हो रहा था, जैसा कि वसुदेव के चरित्र से मालूम होता है। इन्हीं निवृत्तिपरायण लोगों को हाथ में लेकर श्रीकृष्ण ने प्रवृत्ति-परायण राजपुत्रों का संहार-साधन किया और धर्मराज्य की स्थापना की।

यह केवल एक महान् राज्य-क्रांति ही नहीं थी। फ़्रांस की राज्य-क्रांति केवल राजकीय राज्य-क्रांति थी, इँगलैंड की राज्य-क्रांति केवल आर्थिक राज्य-क्रांति थी। फ़्रांस की राज्य-क्रांति से मिली हुई स्वाधीनता रक्त की नदियों के साथ बह गई, इँगलैंड की राज्य-क्रांति ने कोठीवालशाही का साम्राज्य स्थापित किया; पर श्रीकृष्ण ने जो राज्य-क्रांति की, उसने आध्यात्मिक क्रांति की और हिन्दुस्तान को एक आदर्श राष्ट्र बना दिया।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी; स्त्रियों में पातिव्रत-धर्म पूर्णता के साथ वर्तमान था; पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियों के संबंध में लोगों का ऐसा खयाल हो चला

था कि इन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदों के गहन विचारों के प्रचार से धार्मिक पुरुषों के अंतःकरण पर यह दृढ़ संस्कार हो चुका था कि संसार से अलग होना ही मोक्ष का मार्ग है। श्रीकृष्ण ने जो धार्मिक क्रांति की, वह इन्हीं विचारों से की और वह क्रांति बड़ी ही जबर्दस्त थी। श्रीकृष्ण उन्हीं शूद्रों और वैश्यों में पले थे, जिनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा न थी। श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया और उनके सरल हृदयों में भक्ति-भाव का संचार कर दिया। वृंदावन-विहारी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये गोपों की स्त्रियाँ दौड़ी जाती थीं और श्रीकृष्ण उन्हें भगवद्भक्ति का उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेश से फिर से बाँध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके सांसारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके पारलौकिक कर्तव्य बतलाए। इस प्रकार सारे समाज को फिर से संगठित कर दिया। श्रीकृष्ण का सारा जीवन केवल संहार में ही नहीं बीता; नित्य नए शत्रुओं से सामना करना और उन्हें स्वर्ग का रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्य-क्रम था, उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना, जिज्ञासुओं को वेदांत के गूढ़ तत्त्व समझाना और भक्तों को उपदेशामृत से तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य-क्रम था। उस समय उनके मुकाबिले का जिस प्रकार कोई शूर-वीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्म-वेत्ता और

धर्मोपदेशक भी न था। श्रीकृष्ण धर्म-संस्थापक थे और उन्होंने धार्मिक क्रांति करके जिन धर्म-सिद्धांतों की स्थापना की है, उनका श्रीमद्भगवद्गीता में समावेश हुआ। यह ग्रंथ अद्वितीय है और उस धार्मिक क्रांति का परिचायक है। आज भारतवर्ष में सनातनधर्म के जो जो संप्रदाय प्रचलित हैं, उनकी आधार-भूता प्रस्थान-त्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। श्रीकृष्ण की इस आध्यात्मिक क्रांति का प्रकाश हमें केवल साढ़े चार हजार वर्ष तक ही नहीं, बल्कि आज भी समस्त हिंदू-जगत् पर प्रखरता के साथ फैला हुआ दिखाई देता है और यह कहना व्यर्थ न होगा कि जब तक हिंदू-जाति जीती रहेगी, तब तक श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश इसी प्रकार दीप्तिमान् रहेगा। प्रत्युत यह भी आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे श्रीकृष्ण का प्रकाश सारे संसार में फैलेगा, क्योंकि भगवद्गीता ग्रंथ ऐसा ही अलौकिक है। लोकमान्य तिलक का ज्ञानोत्तर कर्मवाद, पूज्यपाद शंकराचार्य का ज्ञानोत्तर कर्म-संन्यास और अद्वैतवाद, उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सब मतों का आधार यही श्रीकृष्ण का उपदेश है और महात्मा गांधी का अहिंसावाद भी इसी उपदेश का परिणाम है।

श्रीमद्भगवद्गीता ने ही पहले-पहल स्त्रियों और शूद्रों के मोक्षाधिकार का विधान किया है और सबके लिये भक्ति-मार्ग का द्वार खोल दिया है। यों तो संसार में कोई वस्तु नई नहीं है, पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण ही हुए हैं और

आज इस मार्ग का जितना अवलंबन होता है, उतना और किसी मार्ग का नहीं। यह मार्ग सबके लिये सुगम भी है। भगवद्‌गीता की यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता प्रवृत्ति और निवृत्ति का नियंत्रण है। भगवद्‌गीता यह नहीं बतलाती कि ईश्वर को भूलकर या ईश्वर के नाम पर संसार के सब सुख लूटते रहो और यह भी नहीं बतलाती कि संसार को छोड़कर जंगल में चले जाओ। गीता यह बतलाती है कि कर्म छोड़ने से नहीं छूटता, कर्म करना ही पड़ता है। कर्म-सातत्य का अबाधित नियम बतलाकर श्रीकृष्ण फल-त्याग-पूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हैं। निवृत्ति-परायण लोगों को इस प्रकार कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण ने समाज-रक्षा की व्यवस्था की। फलाशा छोड़कर कोई कैसे कर्म कर सकता है? इस शंका का श्रीकृष्ण ने पूर्ण समाधान किया है। फलाशा छोड़कर कर्म करो, फल तुम्हारे हाथ में नहीं है, कर्म को तुम अकेले नहीं करते—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, प्रकृति की विविध चेष्टा और दैव, इन सबके संयोग से कर्म होता है और इन सबकी योजना करनेवाला ईश्वर ही तुम्हें कर्म में नियोजित करता है। इसलिये इसी परमेश्वर की आज्ञा का केवल पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसलिये ईश्वर को सब फल अर्पण कर दो। इसी प्रकार की ईश्वरार्पण-बुद्धि से भक्ति-पूर्वक कर्मयोग का अवलंबन करना ही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का सिद्धांत है और इस सिद्धांत को श्रीकृष्ण ने अपने आचरण

और उपदेश से स्थापित किया है। किसी शास्त्र का, किसी मत का, उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सब मतों को अपना लिया और यह मत स्थापित किया कि चाहे कोई किसी मार्ग से क्यों न जाय, पर सब ईश्वर की ओर ही जा रहे हैं। इस उपदेश में बाइबल या कुरान की अपेक्षा कितनी अधिक उदारता है! वास्तव में श्रीकृष्ण सारे संसार के सुख के लिये ही ऐसी व्यवस्था बाँध गए हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में संसार के सब आध्यात्मिक सिद्धांतों का विचार हुआ है और भक्ति-पूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने का सिद्धांत ही सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के मोक्ष का इतना सुलभ, स्वतंत्र और श्रेष्ठ सिद्धांत श्रीकृष्ण ने ही स्थापित किया और धीरे धीरे संसार इसी सिद्धांत की ओर झुक रहा है।

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन भर में इस प्रकार धर्म-राज्य स्थापित कर एक नवीन युग प्रवर्तित कर दिया। उन्होंने यह लीला कलियुग के आरंभ में की थी। मानों इस कलिकाल में होनेवाले दुराचारों का दृश्य दिखाकर उन्होंने यह भी बतला दिया कि ईश्वर इस प्रकार उन दुराचारों का नाश करके सदाचार स्थापित करेंगे और अधर्म का नाश करके धर्म की रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण-चरित्र कलियुग में ईश्वर की लीला का वर्णन है। कलिकाल में अनेक अत्याचार और दुराचार होंगे, दुष्टों का प्रभुत्व होगा और धर्म-परायण पुरुषों को बहुत

कष्ट होगा। इसलिये बार बार ईश्वर को अवतार लेने पड़ेंगे। इसी लिये श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब तब मैं आता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश कर धर्म स्थापित करने के लिये मैं हर युग में अवतार लेता हूँ।

तो क्या श्रीकृष्ण ईश्वर थे। हाँ, उनका चरित्र पाठ करने से यही मालूम होता है कि वे ईश्वर के पूर्णावतार थे। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ईश्वर वास करते हैं; पर श्रीकृष्ण के शरीर द्वारा वे अपनी सोलहों कलाओं से प्रकाशमान हुए थे। श्रीकृष्ण एक शरीर धारण किए हुए थे, पर उस शरीर की उन्हें सुध नहीं थी, उनकी आत्मा सारे विश्व में व्याप्त थी। इसी लिये उनका नाम विश्वात्मा है और उनका स्थान भक्तों का हृदय है।

—लक्ष्मण नारायण गर्दे

——

(२०) उसने कहा था

(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जवान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिये ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के ज़ंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार

बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीऐ जोगिए; हट जा, करमावालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है. तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ?—बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथंने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोनें के लिये दही लेने आया था और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने विना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में;—और तेरे ?'

'माझे में; —यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में है।'

इतने में दुकानदार निवटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—

'तेरी कुड़माई (=सगाई) हो गई' ? इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली —'हाँ, हो गई।'

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले (= खोमचेवाले) की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे

हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती हैं और सौ सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक् से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँहफाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया

था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुसकुराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या! हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा (=पुरोहित) बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ (=स्त्री) को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—"

"चुप कर। यहाँवालों को शरम नहीं।"

"देस देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और "निमोनिया" से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और

मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है। मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कुछ गाओ!"

+ + + + +

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख गंदे गीत गायँगे, पर सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है! सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरान-कोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी छुट रही है। रोम रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। बिलायत से मेमें बुन बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उघारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूँठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ

पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहे, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो तुम भी पीयो।"

आँख मारते मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए?

शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिंदुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश तुमको पसंद नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गए थे"—"हाँ, हाँ—वही जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था?" "बेशक, पाजी कहीं का"—"सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजिमंट की मैस में लगाएँगे।" "हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—ऐसे बड़े बड़े सींग! दो दो फुट के तो होंगे!"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से टकराया।

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?"

(४)

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (=ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं —"

"ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो!"

"आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आह! माई गाड" कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सिखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गाएँ होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आए? हमारे लपटन साहब तो बिना "डैम" के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़ पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपए निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम

भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो —"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया" और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वें सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा।" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की

पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई ! वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्रीअकाल पुरुष !!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया। और बाकी का साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में, 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरा-सिंह कह रहा था कि कैसे कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और काग-

ज़ात पाकर, उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई-वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर अंदर आ पहुँचीं। फील्ड-अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है; सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंद है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

"और तुम ?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिये भी गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा

मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो

उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।

पचीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं; लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार वेड़े में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं ? कब से ? रेजीमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना ?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी पिला"—उसने कहा था।

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों [=स्त्रियों] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वजीरासिंह, पानी पिला"—उसने कहा था।

× × × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—हाँ।

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (=आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।

वजीरासिंह के आँसू टप् टप् टपक रहे थे।

× × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

चंद्रधर शर्मा गुलेरी

---

(२१) संतों की सहिष्णुता

भारतवर्ष वही था जहाँ हमने शताब्दियों तक राज्य किया था, हमारे शरीर में रक्त भी उन्हीं जगद्विजयी पूर्वजों का था, हमारे घर और बाहर के टीमटाम भी वैसे ही थे। श्रावणी में हम रक्षाबंधन बाँधते थे लेकिन उसी राखी में हिंदू-जाति को एक में गूँथ देने की शक्ति बाकी नहीं रह गई थी। रामलीला हम बदस्तूर मानते थे, लेकिन हमारे रामबाण में इतना बल कहाँ कि अत्याचारी रावण के दश सिर वेधन कर फिर वापस आ जाते। दिवाली हम करते थे लेकिन हमारे दीपकों में वह प्रकाश नहीं था जो संसार की आँखों को चकाचौंध कर देता था। होली भी हम रो-पीटकर करते ही थे लेकिन हमारा गुलाल आर्य जाति को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने में समर्थ नहीं था। जन्माष्टमी में भगवान् का जन्मोत्सव मनाते थे लेकिन वह प्रचंड ज्योति कहाँ जिसके देखते देखते परतंत्रता की बेड़ियाँ टूटकर गिर जायँ। वे चरण कहाँ जिनके छूने से हमारे संकट की सरिता सूख जाय! वह मोहन की मुरली कहाँ जिसकी तान हमको देश-ममता के मद में मस्त कर देती! हिंदू-जाति निष्प्राण हो गई थी, केवल बाहरी ढाँचा रह गया था भला उससे मुगल लोग या कोई भी कैसे डरने लगे? इसलिये हम पर आघात पर आघात हुए। अत्याचार की

सिल पर बेईमानी के बट्टे से नवधा भक्ति में मग्न हिंदू पीसे गए। इनको रगड़कर नौरतन की चटनी बनाई गई।

कितने मुसलमान भी औरंगजेब के तअस्सुब के शिकार हो गए। इस कट्टर मुसलमान बादशाह की नजरों में सिर्फ खुदा रसूल और कलाम-मजीद का मान लेना काफी नहीं था! किंतु मुसलमानी मजहब की हर एक बात को जब उसी तरकीब से माने जैसा बादशाह आलमगीर मानता था, तब आदमी पक्का मुसलमान समझा जाता था। इतने पर भी अगर उस पर किसी तरह का पोलिटिकल शुबहा हुआ तो फौरन् कोई मजहबी कच्चाई भी निकल आती थी। ऐसे लोगों में वे फकीर और महात्मा लोग भी थे जिनको दारा मानता और जानता था। शाहमुहम्मद नामक एक अच्छा संत था। वह बदख्शाँ का रहनेवाला और लाहौर के मशहूर साधु मियाँ मीर का चेला था। काश्मीर में उसने अपनी कुटी बनाई। उसके मुँह से ज्ञान, वैराग्य और वेदान्त की अमूल्य शिक्षाएँ और मनोहर पद्य निकलते रहते थे। दूर-दूर के लोग उसके दर्शन के लिये आते थे। दारा और जहाँनारा की तरफ से भी उसकी बड़ी खातिर होती थी। बादशाह होने पर औरंगजेब ने जहाँ दारा के और दोस्तों से बदला लिया वहाँ इस फकीर पर भी उसकी कुदृष्टि पड़ी। लाहौर में आकर बड़ी मुसीबत में शाहमुहम्मद ने अपने दिन काटे।

सूफी मजहब के नाम से पाठक अपरिचित न होंगे। वह मुसलमानी लिबास में अद्वैत-वेदांत का दूसरा स्वरूप है। वेदांत के "अहं ब्रह्मास्मि" "शिवोऽहम्" इत्यादि वाक्यों के भाव को लेकर सूफी महात्माओं ने कितने ही अच्छे अच्छे ग्रंथ और पद बना डाले हैं। शंकर भगवान्, महात्मा रामकृष्ण, स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थ महाराज ने वेदांत-शिक्षा को खूब अच्छी तरह समझाया है, लेकिन इन सबसे पहले खुद योगिराज कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में गीता-रूप वेदांत का तत्त्व संसार को भेंट किया है। जीव अमर-अजर है। न वह जन्म धारण करता है; न वह बालक, न युवा और न वृद्ध है। सुख-दुख का भोगनेवाला, बंधनों में भटकनेवाला वह कोई बंदी नहीं है; वह स्वयं परब्रह्म चिदानंद, शांतिस्वरूप, अनाम, अनीह, अनंत, अपार और अच्युत है। पांचभौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर का उद्योग करते हुए भी वह इससे परे है। स्थूल और सूक्ष्मादि अनेक देह उसके मोटे-पतले भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रमात्र हैं। माता-पिता, भाई-बंधु स्त्री और पुत्र कोई किसी का कुछ नहीं। इसका पता भी तो नहीं है कि कौन कितने दफे किसका पिता और कितनी बार किसका पुत्र हो चुका है। इसलिये महात्मा लोग संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते। कमल का पत्ता जल में रहकर भी नहीं भीगता। जब संसार के नाते-रिश्ते थोड़ी देर के तमाशे हैं और जब जीव मरता नहीं, केवल पुराने कपड़े उतारकर नए

धारण कर लेता है, तब शोक किस बात का? किसी के मरने पर ग़म क्यों मनाया जाय? तुच्छ शरीर से निकलकर संसार के विराट् रूप में प्रवेश करने की खुदाई को जुदाई क्यों माना जाय? इसलिये संत लोग परिवार में रहते हुए भी सदा उसको त्यागने के लिये सन्नद्ध रहते हैं। वियोग होने पर वे अपने योग के पंखों पर ज्ञान-गगन में मँडराने लगते हैं। चिड़िया टहनी पर बैठती जरूर है लेकिन टहनी कट जाने से वह उसके साथ जमीन पर नहीं गिरती, ऊपर आकाश-मंडल में उड़ने लगती है। साधु लोग धन दौलत की भी परवाह नहीं करते हैं। जब दुनिया ही फ़ानी है तब उसके माल-टाल का क्या ठिकाना? फिर जो जगत् भर के लोगों को अपना स्वरूप मानता है वह संसार के सर्वस्व को अपना मानते हुए अपनी शान में मस्त है। बादशाह होने की वजह से आप जरूर बड़े कहे जायँगे लेकिन आपसे कहीं बढ़कर वह है, जिसने आप की तरह असंख्य बादशाहों की सल्तनत दुनिया को माफी बख्श दी है। अमेरिका के प्रेसीडेंट ने महात्मा रामतीर्थ महाराज से कुछ माँगने के लिये कहा। राम शाहंशाह ने हँसते हुए कहा—

"बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरे शतरंज के।
दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के॥"

ऐसे देवताओं के लिये मौत भी एक मजाक का सामान है। भीष्म पितामह ने शरशय्या पर धर्मोपदेश दिए। हजरत

मसीह ने सूली पर भी अपने प्रतिवादियों के लिए प्रार्थना की, महर्षि सुकरात ने आनंद से विष का प्याला मुँह में लगाया। रामतीर्थ महाराज ने सच्चे हिन्दू की तरह भक्ति से अपना शरीर गंगा मैया को भेंट कर दिया।

"गंगा मैं तेरी बल जाऊँ।
हाड़ माँस तुझे अर्पण कर दूँ यही फूल बताशा लाऊँ
रमण करूँ मैं शतधारा में न तो नाम न राम कहाऊँ॥"

जैसा कहा जा चुका है कि वेदांती और सूफी मजहब में नाम और रूप का फर्क है। सूफी खुदा की याद में मस्त रहता है। बाग में, गुल में, बुलबुल और सरो में, कामिनी के चाँद से मुखड़े में, मस्तानी तानों में जहाँ कहीं देखता है यार की सूरत, मोहन की माधुरी मूरत नजर आती है। जब तक मंजिले-मकसूद नहीं पहुँचे, हजार झगड़े। रास्ते की दिक्कतें और लाख उधेड़-बुन हैं लेकिन जब जो जिसका था उससे मिलकर एक हो गया, फिर चिंता किस बात की। योग कैसा, भोग कैसा, रोजे और नमाज कैसे? बस गूँगे बनकर बैठ गए, कलमा कलाम भी भूल गए, प्यारे प्रीतम के प्रेम की लहर चारों तरफ लहरा रही है। देखकर आँखें सहम सी गई हैं।

"दरियाय इश्क बह रहा लहरों से बेशुमार।"

सरमद नाम का एक मशहूर सूफी था। दारा इसको मानता था। इसी लिये यह औरंगजेब का क्रोध-भाजन हुआ।

औरंगजेब की आज्ञा से मक्कार मुसलमानों की एक कमेटी सरमद का न्याय करने को बैठी। चार्ज लगाया गया कि वह नंगा रहता है। अगर असल में औरंगजेब का यही मतलब था तो नागे-वैरागी पहले कत्ल होने चाहिएँ थे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरमद का बड़ा भारी और मुख्य अपराध तो यह था कि वह दारा का मित्र था। दारा के मरने पर भी औरंगजेब डरता था कि कहीं सरमद अपनी कूवत से कुछ बला न गिराए। औरंगजेब को पता नहीं था कि संतों के लिये न कोई मित्र है न कोई शत्रु; और न संसार को तृण-समान जाननेवाले महात्मा को औरंगजेब की सल्तनत और शान की परवा थी। अधम औरंगजेब के अन्यायी न्याय-कारियों ने फकीर को प्राणदंड की आज्ञा दी। लेकिन जो इन लोगों के लिये बड़ी भारी चीज थी वह सरमद के लिये महज दिल्लगी थी। जो दिन-रात प्रीतम के प्रेम में मतवाला रहता था वह कितने दिन तक उसका वियोग सह सकता था?

"कौन सी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर,
आरजूए वस्ल में यह दिल भटकता ही रहा।"

लेकिन—

"जाकर जापर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलत न कछु संदेहू।"

जिसका जिस पर सच्चा प्रेम होता है वह अवश्य उसे मिलता है।

"पा गया बस चेहरए मकसूद को लैली के वह।
जो हुआ है मिस्ल मजनूँ बुलबुले गुलजारे इश्क ॥"

मौत की आज्ञा फकीर को सुनाई गई। उसके आनंद का ठिकाना नहीं। इतने दिन अकेले रहनेवाले, जुदाई में तपनेवाले सरमद का व्याह होगा। व्याह होगा ऐसे पुरुष से जिससे बढ़कर संसार में या कहीं कोई भी न हुआ और न कोई होगा। वह समझता था—

"भूली योवन मद करे अरी वावरी बाम।
यह नैहर दिन दोय को अंत कंत से काम ॥"

मंडपरूपी सूली तैयार की गई। वहीं सरमद से उसके प्यारे का मिलन होगा। पल पल युग के समान बीत रहा है। अपने अवगुणों का ध्यान करके पैर आगे नहीं पड़ता, कलेजा दहल रहा है; आनंद, भय और लज्जा से रोमांच हो आए हैं; प्रीतम के दिव्य स्वरूप का ध्यान करके आँखें झप जाती हैं। देखते देखते घड़ी आ गई, ओफ कैसा दिव्य स्वरूप है! क्या बाँकी झाकी है!

"तेरी सूरत से नहीं मिलती किसी की सूरत।
हम जहाँ में तेरी तस्वीर लिए फिरते हैं ॥"

देखते देखते विवाह की घड़ी आ गई। अब प्रीतम सरमद के सिर में सिंदूर भरेंगे। उसके सिर में लालिमा की रेखा दौड़ेगी। ऐसे बड़े का व्याह, फिर चुटकी से जरा सा सिंदूर थोड़े ही लगाया जायगा। प्रेम में भीगे हुए, मस्ती में चूर प्रेमियों की शादी! सर्वांग लाल करना होगा, खड्ग-

शृंगार किया जायगा। सरमद माथा खोले, सिर नीचा किए, संकोच से सिकुड़ा हुआ खड़ा है। प्यारे ने आकर हाथ से ठुड्डी पकड़ मुँह ऊपर उठा दिया, आँखें मिल गईं, अंतर न रहा, बिछुड़े हुए मिलकर एक हो गए। जो तुम वही हम और जो हम वही तुम; जब ऐसी बात है फिर हम और तुम का भेद कहाँ!

अब सूली पर चढ़ा सरमद और सामने उसका मनचोर माखनचोर हरी—

''यार को हमने जा-बजा देखा,
कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा।''

गुम कर खुदी को तो तुझे हासिल कमाल हो।''

खड्ग ने अपना काम किया, सरमद और उसके प्रीतम मिलकर एक हो गए। प्रेम के गीत गाता हुआ सरमद बिदा हो गया।

''साकी ने अपना हाथ दिया भरके जाम सोज़,
इस जिंदगी के कैफ का टूटा खुमार आज।''

महात्मा इस लोक से हँसते हँसते बिदा हो गया। उसके नश्वर शरीर का नाश हो गया लेकिन अपना अमर नाम वह छोड़ गया और हमारे लिये ''अनलहक'' का उपदेश। सज्जन लोग दूसरों के लिये कष्ट उठाते हैं, कष्ट को वे कष्ट ही नहीं समझते। तो सोने की परीक्षा कैसे हो? खराद पर चढ़े बिना हीरे की जाँच कैसे हो?

''किया दावा अनलहक का हुआ सरदार आलम का,
अगर चढ़ता न सूली पै तो वह मंसूर क्यों होता?''

अत्याचार का मुख्य प्रयोजन होता है लोगों को दबाना लेकिन परिणाम इसका उलटा होता है। दुनिया के इतिहास में जहाँ कहीं आप देखेंगे अत्याचार से असंतोष का फैलना पाया जाता है। रगड़ लगने से चंदन-वन में भी आग लग जाती है। इसी तरह औरंगजेब के जुल्म ने मरी हुई जाति को सचेत कर दिया। अकबर की कुटिल नीति के क्लोरो-फार्म से जो बेहोश हो गए थे उनको झोंके देकर औरंगजेब ने होश में ला दिया। साधु सिक्ख प्रबल योद्धा हो गए, लुटेरे मरहठे फतेहयाब दुश्मन हो गए, अपनी मर्यादा से गिरे हुए राजपूत फिर कमर कसकर खड़े हो गए।

इनके अतिरिक्त सतनामियों ने भी अत्याचार सहकर सर उठाए थे। एक मुसलमान सिपाही ने कुछ सतनामी किसानों को सताया जिससे पीड़ित होकर उन लोगों ने उसको दंड दिया। मुसलमानी राज्य में मार खाकर भी मुसलमान सिपाही को मारने का हिंदुओं को क्या हक था? सतनामियों को दंड देने के लिये कुछ सिपाही भेजे गए जो परास्त हुए। अंत में एक बड़ी सेना दंड देने के लिये भेजी गई; बहादुर सतनामी, सामान के न होते हुए भी, बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अंत में परास्त हुए और हजारों की संख्या में मारे गए।

—मन्नन द्विवेदी

———

टिप्पणी

(१) रानडे की देश-सेवा

[पंडित रामनारायण मिश्र सारस्वत ब्राह्मण हैं। आपका जन्म सं० १९३३ में दिल्ली में हुआ था। काशी के क्वींस-कालेज से सं० १९५७ में बी० ए० पास करके आप स्कूलों के डिपुटी-इंसपेक्टर हो गए और उसके बाद कई सरकारी और गैर-सरकारी हाई स्कूलों के हेड मास्टर रहे। इन दिनों आप सेंट्रल हिन्दू-स्कूल के प्रधान हैं। आप काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से हैं और अब तक उसकी सेवा करते आ रहे हैं। आपकी हिंदी और अँगरेजी लिखने की शैली बहुत ही स्वच्छ, सुंदर और सरल है। आप पहले 'सुदर्शन' और 'सरस्वती' आदि पत्र-पत्रिकाओं में बराबर लेख लिखा करते थे। आपकी लिखी पुस्तकों में 'रानडे का जीवनचरित्र', 'बालोपदेश', 'पारसियों का इतिहास' और 'जापान का इतिहास' प्रसिद्ध हैं। अभी दो-तीन वर्ष हुए, आप सारे योरप की यात्रा कर आए हैं। अखिल-एशिया-शिक्षा-सम्मेलन का अस्तित्व आप ही के उद्योग का परिणाम है।]

पृ० १. रानडे—महादेव गोविंद रानडे का जन्म सन् १८४२ में हुआ था। ये मराठा थे। इन्होंने अँगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। सरकार और प्रजा दोनों में इनका बड़ा मान था। सरकारी नौकरी में इनकी बड़ी उन्नति हुई। सन् १८७१ में ये पूना के सब-जज बनाए गए और फिर बम्बई हाईकोर्ट के जज हो गए। सन् १९०१ में इनकी मृत्यु हो गई।

पृ० २. शताब्दी—एक सौ वर्ष का समय, यहाँ पर सौवाँ वर्ष। सर्वप्रिय—जो सबको प्यारा लगे, सबको पसंद हो। संस्थाओं के प्रवर्तक—सभा सोसाइटियों, को चलानेवाले। अनुराग—प्रेम। औद्योगिक—

उद्योग-धंधों से संबंध रखनेवाली। दूरदर्शी—बहुत दूर की बात सोचनेवाले, परिणाम देखकर कार्य्य करनेवाले। विद्रोह—बलवा। विप्लव—क्रांति, एकदम बहुत बड़ा उलट-पलट।

पृ० ३. नूतन स्रोत—नया प्रवाह। बरबस—जबर्दस्ती। दुर्भिक्ष—अकाल। आत्मसमर्पण—अपने आपको उत्सर्ग करना, आत्म-त्याग।

पृ० ४. वक्तृतोत्तेजक—व्याख्यान देने में उत्साह देनेवाली सभा।

पृ० ७. जीवित भाषाएँ—जो भाषाएँ बोल-चाल के काम में आती हैं।

(२) बातचीत

[पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ में, प्रयाग में, हुआ था। पहले इन्हें घर पर संस्कृत की शिक्षा मिली। फिर ये मिशन स्कूल में अँगरेजी पढ़ने लगे। पादरी हेड मास्टर से वाद-विवाद हो जाने पर आपने स्कूल छोड़ दिया और फिर संस्कृत पढ़ने लगे। इसी बीच में ये जमुना मिशन-स्कूल में अध्यापक हो गए। पर वहां भी अपनी धर्मनिष्ठा के कारण न निभी। नौकरी छोड़कर इन्होंने व्यापार में हाथ लगाया, पर वह भी इनकी प्रकृति के अनुकूल न निकला। अतएव ये साहित्य-सेवा में अपना सारा समय लगाने लगे और थोड़े ही समय में प्रसिद्ध लेखक हो गए। इस बीच में ये संस्कृत का गहन अध्ययन भी करते रहे। इसी समय प्रयाग में हिंदी-प्रवर्द्धिनी सभा की स्थापना हुई जिसने "हिंदी-प्रदीप" मासिक पत्र निकालना शुरू किया। पं० बालकृष्ण भट्ट इस पत्र के संपादक बनाए गए। इन्हीं दिनों प्रेस-ऐक्ट पास हुआ और लोगों ने 'प्रदीप' से नाता तोड़ दिया, पर वे बराबर कई वर्ष तक उसे चलाते रहे। पीछे आप कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक हो गए। आपके लेखों का संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। रेल का विकट खेल, बाल-विवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि कई अच्छे ग्रंथ इन्होंने लिखे।]

पृ० ९. वाक्शक्ति—बोलने की शक्ति। लुंज-पुंज—लूलों का समूह। स्पीच (अँगरेजी)—व्याख्यान। नाज-नखरा—हाव-भाव। पुलपिट (अँग०)—गिरजाघर का मंच, यहाँ पर सभा-मंच। पुण्याह-वाचन—स्वस्ति-वाचन, मंगलाचरण। नांदीपाठ—नाटक के आरंभ में प्रबंधकों की तरफ से मंगलाचरण। स्तुति—प्रशंसा। मर्म—गहरा भाव। नोक की—चुभती हुई। खामखाह—स्वयं अपनी ओर से या जबरदस्ती।

पृ० १०. करतलध्वनि—ताली। कहकहा—ठहाके की हँसी। चुटीली—अनूठी, चुभती हुई। संलाप—बातचीत। रमाना—मन को लगाना, लवलीन करना संजीदगी—गंभीरता। बेकदर—निरादृत। राबिंसन क्रूसो—यह अँगरेजी के एक काल्पनिक आख्यान का नायक है। आख्यान का नाम भी राबिंसन क्रूसो ही है। इसे डैनियल डिफो ने लिखा था। राबिंसन क्रूसो एक जहाज में समुद्र-यात्रा कर रहा था। जहाज के कप्तान से उसकी बिगड़ गई और वह एक निर्जन टापू में उतार दिया गया। कई वर्ष तक वह वहाँ रहा। वहीं उसको फ्राइडे मिला था। कई वर्ष बाद एक जहाज उस टापू पर लगा। उसी पर राबिंसन फ्राइडे को लेकर अपने देश को वापस आया।

पृ० ११. आभ्यंतरिक—भीतरी। एडिसन—यह एक अँगरेज विद्वान् लेखक था। इसने अपने मित्र स्टील के साथ मिलकर स्पेक्टेटर नाम का एक पत्र निकाला था जिसमें हँसी के तौर पर इतने बड़े मार्मिक निबंध लिखे थे। इन्हीं निबंधों के कारण एडिसन का इतना नाम है।

पृ० १२. विद्युत्—बिजली। प्रसरण—फैलना। फार्मेलिटी (अँग०)—तकल्लुफ। अँगूठी में नग सी जड़ जाती है—दिल में जगह कर लेती है।

पृ० १३. बाबा आदम का जमाना—मुसलमानों के विश्वास के अनुसार सबसे पहले मनुष्यों का एक ही जोड़ा था। यह जोड़ा था आदम और उसकी स्त्री हव्वा का। इसलिये बाबा आदम का जमाना—बहुत पुराना समय। हम चुनी दीगरे नेस्त (फारसी कहावत)—हमारे बराबर और कोई नहीं है। गिल्ला-शिकवा—शिकायत। रामरसरा—रामकहानी। खोढ़े—घिसे या आधे टूटे हुए।

पृ० १५. वाद—शास्त्रार्थ। फ़रीक—पक्ष।

पृ० १६. रसाभास—रंग में भंग। प्रपंचात्मक—मायावी। चमनिस्तान—बगीचा, उद्यान। दुर्घट बात नहीं—ऐसी बात नहीं कि जो कठिनाई से हो अर्थात् सहज ही में हो सकती है। सोलहवीं कला—सोलहवाँ हिस्सा। दमन—दबाकर जीतना, वश में करना।

पृ० १७. कतरनी—कैंची। सोपान—सीढ़ी।

(३) एक दुराशा

[बाबू बालमुकुंद गुप्त अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म संवत् १९२२ की कार्तिक शुक्ला ४ को रोहतक जिले के गुरियानी गाँव में हुआ था। सबसे पहले ये सं० १९४४ में जनता के सामने चुनार (मिर्जापुर) से निकलनेवाले उर्दू 'अखबारे चुनार' के संपादक के रूप में आए। सं० १९४५ में लाहौर के उर्दू 'कोहेनूर' के संपादक हुए। इन्हीं दिनों हिंदी का आंदोलन चला। हिंदी सीखकर ये कालाकाँकर के हिंदी दैनिक 'हिंदोस्थान' में चले आए। शीघ्र ही ये 'बंगवासी' के सहायक संपादक नियुक्त हुए और पाँच वर्ष तक उसी पद पर रहे। सं० १९५४ में भारतमित्र के संपादक हुए और मृत्यु-पर्यंत उसका संपादन करते रहे। ये बड़े हास्य-प्रिय और देशानुरागी व्यक्ति थे। देश की दशा का भी ये पूरा ज्ञान रखते थे। इनके 'शिवशंभु के चिट्ठे' से ये बातें अच्छी तरह प्रकट होती है। इनकी आलोचना बड़ी तीव्र होती थी। शिवशंभु के चिट्ठे के अतिरिक्त हरिदास, मडेल

भगिनी, रत्नावली नाटिका आदि कई पुस्तकों की गुप्तजी ने रचना और अनुवाद किया।]

पृ० १८. जाफरानी—केसरिया रंग की। शिवशंभु के नाम से इन्होंने भारतमित्र में कई चिट्ठियाँ छपाई थीं जिनका संग्रह शिवशंभु के चिट्ठे में किया गया है। बाग—लगाम। जकंद—छलाँग। तूल-अरज—लंबाई-चौड़ाई। कन-रसिया—सुनने के रसिक।

पृ० १९. विपर्य्यय—उलट-पलट।

पृ० २०. द्वितीया का चंद्रमा—कभी ही कभी दिखाई देनेवाला।

(४) बीज की बात

[रायकृष्णदास का जन्म सं० १९४९ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को काशी में हुआ। इनके पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। ९ वर्ष की अवस्था में ये कविता करने लगे थे। इनके पिता के मौसेरे भाई बा० राधाकृष्णदास इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न होते थे। जब ये केवल १२ वर्ष के थे, तभी इनके पिता स्वर्गवासी हो गए थे। १६ वें वर्ष इन्होंने 'दुलारे रामचंद्र' नाम का एक उपन्यास लिखना आरंभ किया जो अधूरा रह गया। इन्होंने साहित्य के कई अंगों पर काम किया है। कविता में इनके मार्गदर्शक बाबू मैथिलीशरण गुप्त थे। बँगला साहित्य का भी इन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। रवींद्र बाबू की गीतांजलि पढ़कर इन्होंने उसी ढंग पर 'साधना' लिखी। इनकी कहानियों पर भी बँगला का प्रभाव पड़ा है, विशेषकर रवींद्र और प्रभात बाबू का। ये कला-कोविद भी हैं। इनकी सबसे बड़ी कीर्त्ति इनका किया हुआ कला-कृतियों का संग्रह है जो आजकल नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी का एक अंग है। कलाभवन का पूर्व-रूप भारतीय कला-परिषत् था जिसकी स्थापना इन्होंने संवत् १९७७ में की थी।]

पृ० २२. स्वयंरुह वनस्पति-वंश—अपने आप पैदा होनेवाली घास जिसे किसान गुड़ाई-निराई कर समूल नष्ट कर देते हैं। जकात—राजकर।

पृ० २३. कृतांत—अंत करनेवाला, काल। सींकिया-जवान—सींक की तरह दुबला-पतला।

पृ० २४. अवसर—मौका। प्रतीक्षा करना—बाट देखना। सोंधी—सुगंधित। खल्वाट—गंजा। कुंतल—बाल। भानमती का पिटारा—वह पिटारा जिसमें मदारी अपनी आश्चर्यकारक वस्तुओं को रखे रहता है।

पृ० २५. पेंगे—झूले पर के झोंके। संहारैषणा—नाश करने की इच्छा। भूमि-क्षेत्रण—कृषि-कर्म के लिये भूमि पर खेत बनाना। कवलित करना—ग्रास करना, खा जाना। प्रहरी—पहरेदार। प्रति-क्रिया—प्रतिकार का कार्य्य, रोकने का उपाय।

पृ० २६. कलियाना—नई नई कोंपलें फूटना। कासनी—हलके बैंगनी रंग का। वितरित किया—बाँटा।

पृ० २७. बक्कल—वल्कल, छाल।

पृ० २८. श्लोक का अनुवाद—जहाँ उद्यम, साहस, धैर्य्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छः गुण हैं, वहाँ देवता भी सहायता करते हैं।

(५) वृद्ध

[पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ में, आश्विन शुक्ला ९ को, पं० संकटाप्रसाद के घर बैजेगाँव जिला कानपुर में हुआ था। इनको संस्कृत, हिंदी और अँगरेजी की साधारण शिक्षा मिली थी। उर्दू फारसी का भी इन्होंने कुछ अभ्यास किया था। ये अपने समय के अच्छे कवि और लेखक थे। ये अपनी हास्यमयी रचनाओं के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। ये हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान के बड़े भक्त थे। इन्होंने कानपुर से "ब्राह्मण" नाम का एक पत्र सं० १९४० में निकाला था जो दस वर्ष तक चलता रहा। इन्होंने हठी हमीर (नाटक), दंगल खंड (आल्हा), तृप्यंताम्, भारतदुर्दशा, राजसिंह, युगलांगुलीय आदि ४० के लगभग पुस्तकों की रचना और अनुवाद किया। दुर्भाग्यवश ३८ वर्ष की ही अवस्था में दैव ने इन्हें संसार से उठा लिया।]

पृ० २९. कलई खोलना—असली या भीतरी बातों को प्रकट करना। गट्टा सी—बहुत कड़ी।

पृ० ३१. नव विधान—नई आयोजना। वृहज्जीवनाशा—बहुत दिनों तक जीने की आशा।

पृ० ३२. बंधुवात्सल्य—भाइयों पर प्रेम। पसेमर्ग—मरने के बाद। यावदवयव—सब अंग।

श्लोकार्थ—भोग की इच्छा नहीं रही है, लोगों में मान भी नहीं रहा, अपनी उमर के सब लोग मर गए हैं। धीरे धीरे लकड़ी के सहारे उठना होता है, आँखों में अँधेरा छा गया है, फिर भी इस दुष्ट शरीर ने मौत को बे-उपाय करके चकित कर दिया है।

पृ० ३३. भगवच्चरणानुसरण—भगवान् के चरणों का अनुगमन करना, उनके चरणों की भक्ति करना।

(६) "इत्यादि" की आत्म-कहानी

[बाबू यशोदानंदन अखौरी आरे के रहनेवाले हैं। आपकी अवस्था पचास वर्ष से ऊपर की है। आपने अपना जीवन 'भारत-मित्र', 'शिक्षा', 'विद्या-विनोद' आदि पत्र-पत्रिकाओं के संपादन में विताया है और अब भी विता रहे हैं। आपने सामयिक साहित्य के निर्माण में ही अपना योगदान किया है। अखबारों से संबंध रखने के कारण आपको स्थायी साहित्य का भांडार भरने का अवसर नहीं मिल सका। आपकी भाषा सरल, मुहावरेदार और चुभती हुई होती है। वर्णनात्मक विषयों पर आपने अच्छे अच्छे निबंध लिखे हैं।]

पृ० ३४. नमक मिर्च लगाकर—अतिशयोक्ति कर, बात को बढ़ाकर।

पृ० ३५. अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना—अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना। अविकृत अव्यय—व्याकरण के नियमानुसार अव्यय में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता।

(७) मिलन

[पंडित ज्वालादत्त शर्म्मा नए ढंग से कहानी लिखनेवालों में प्रथम हैं। अपनी कहानियों में समाज की दुर्दशा के करुण चित्र अंकित कर आप अपने समय में समाज-सुधार की लहर उठाने में समर्थ हुए थे। आपकी कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हुआ करती थीं। अब भी कभी कभी सरस्वती ही में आपकी कहानियाँ निकलती हैं। आपने 'प्रतिभा' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी जो बहुत दिन नहीं चली। आप अच्छे समालोचक भी हैं। आपका जन्म मुरादाबाद में संवत् १९४५ वि॰ में हुआ।]

पृ॰ ४१. इंद्रिय-संभोग-जन्य—इंद्रियों के भोग से पैदा हुआ अर्थात् दुर्वासनाजन्य।

पृ॰ ४२. बुद्धि-प्रखरता—बुद्धि की तेजी। संयमशीलता—नियम-पूर्वक रहने का स्वभाव।

पृ॰ ४३. नैमित्तिक—जो निमित्त-सहित वा सकारण हो। नैत्यिक—जो नित्य प्रति हो। लबे-सड़क—सड़क के किनारे ही पर। उत्कंठा—बहुत लालसा।

पृ॰ ४५. व्यवधान—अंतर, दूरी।

पृ॰ ४६. वेदवाक्य—जो टाला न जा सके।

पृ॰ ४७. संताप—दुःख।

पृ॰ ४९. लाजिमी—जिसका होना आवश्यक हो, जरूरी। पारायण—पाठ। सुविस्तृत—खूब लंबी। विवेचन—विचार।

पृ॰ ५१. करीने से—अच्छे ढंग से।

पृ॰ ५२. शिष्टता—सभ्यता, शील।

पृ॰ ५४. जलद-गंभीर घोष—बादल के ऐसा गंभीर शब्द। स्वर्ण-खंड-सम—सोने के टुकड़े के समान। अभिज्ञान-शक्ति—याददाश्त, स्मरणशक्ति।

पृ० ५६. ढोंग—दिखावा, आडंबर।

पृ० ५०. नवदंपति—नई जोड़ी।

(८) कर्तव्य और सत्यता

["बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म आषाढ़ संवत् १९३२ में बनारस में लाला देवीदास खन्ना के घर हुआ था। इनके पुरखे लाहौर-निवासी थे जो काशी में आकर बस गए थे। सं० १९५४ में आपने बी० ए० पास किया। कुछ वर्ष तक आप काशी के सेंट्रल हिंदू-कालेज में अँगरेजी के अध्यापक रहे। फिर इरिगेशन डिपार्टमेंट में शिमला चले गए। कुछ वर्षों तक ये महाराज काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर में रहे। वहाँ से कालीचरण हाई स्कूल में हेड मास्टर होकर आए और आजकल काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष हैं। इनकी सबसे बड़ी कीर्ति काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा है जिसकी स्थापना में सबसे बड़ा हाथ इन्हीं का था। सभा की सेवा ये बराबर, किसी न किसी रूप में, करते ही चले आ रहे हैं। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मैकेंजी साहब ने एक बार इनको सभा का Intellectual dynamo कहा था। प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज के आप ६ वर्षों तक अध्यक्ष रहे। आपके संपादकत्व में वैज्ञानिक कोश और हिंदी-शब्दसागर दो महत्त्वपूर्ण कोश निकले हैं। आपने अब तक एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, साहित्य का इतिहास आदि भिन्न भिन्न तथा गंभीर विषयों पर आपकी लेखनी चली है। आपकी शैली ओजपूर्ण, गंभीर और संयत होती है।"]

पृ० ६०. असत्यपरता—झूठ बोलना।

पृ० ६१. व्यग्र रहता है—लगा रहता है। बाधा—अड़चन। चित्त की चंचलता—मन की डाँवाडोल दशा। उद्देश्य की अस्थिरता—एक लक्ष्य का न होना। प्रवृत्ति—झुकाव।

पृ० ६५. रुचता है—पसंद होता है, अच्छा लगता है। वास्तव में—असल में।

(९) मित्रता

[पंडित रामचंद्र शुक्ल का जन्म संवत् १९४१ में, आश्विन की पूर्णिमा को, बस्ती जिला के अगोना गाँव में हुआ। इन्होंने एफ० ए० तक कालिज में शिक्षा पाई। बाल्यकाल में संस्कृत की भी शिक्षा पाई थी। सन् १९०६ में इन्होंने कानून की भी परीक्षा दी थी, पर विफल रहे। इस बीच ये मिर्जापुर मिशन स्कूल में मास्टर हो गए थे। १९०८ में ये नागरी-प्रचारिणी सभा में हिंदी-शब्दसागर के सहकारी संपादक के रूप में बुलाए गए। आठ-नौ वर्ष तक इन्होंने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का संपादन किया। आजकल आप काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। आप कवि और गद्य-लेखक दोनों हैं। आपकी कविताएँ अत्यंत भावपूर्ण होती हैं। फुटकर कविताओं के अतिरिक्त आपने बुद्धचरित्र नामक एक महाकाव्य लिखा है। आपके निबंधों में बड़े गूढ़ भाव भरे रहते हैं, इससे वे जटिल और दुरूह होते हैं। इन्होंने अपने निबंधों के लिये या तो साहित्यिक विषय चुने हैं, या मनोविकार। सूर, तुलसी और जायसी की मार्मिक और विस्तृत आलोचनाएँ भी इन्होंने लिखी हैं। इनकी समालोचनाओं ने हिंदी के आलोचना-क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात किया है।]

पृ० ६७. अपरिमार्जित—बे मँजे। अपरिपक्व—कच्ची।

पृ० ६९. हतोत्साह—निरुत्साह, उत्साह का मारा जाना। आर्द्रता—तरलता, दिल के पसीजने का भाव। क्षोभ—हृदय की खलबली या हलचल। आवेग पूर्ण—जोशभरी। बात लगना—बुरा मानना।

पृ० ७०. पथ-प्रदर्शक—रास्ता दिखलानेवाला। प्रीतिपात्र—प्रेम का भाजन, जिससे प्रेम किया जाय। वांछनीय—इच्छा करने योग्य, ठीक।

पृ० ७२. मृदुल—कोमल । पुरुषार्थी—उद्योगी । शिष्ट—शील-वान् । सत्यनिष्ठ—सत्य पर दृढ़ रहनेवाले ।

पृ० ७३. स्वसंस्कार—अपना सुधार ।

पृ० ७४. आयोजन—व्यवस्था, उपक्रम ।

पृ० ७५. आकृति—चेहरा ।

बेकन—ये एलिजाबेथ के समय एक बड़े दार्शनिक विद्वान् हो गए हैं । इन्होंने अँगरेजी में नवीन तर्कशास्त्र (इंडक्टिव लाजिक) की नींव डाली थी ।

पृ० ७७. सात्त्विकता—भले कार्यों की ओर प्रेरित करनेवाली सत् प्रवृत्ति । मकदूनिया—प्राचीन काल में ग्रीस का एक प्रांत था । प्रसिद्ध विजयी यवन सम्राट् सिकंदर मेसेडोनिया का ही राजा था । डेमेट्रियस वहीं का राजा था ।

पृ० ७८. विवेक—भले-बुरे की पहचान । कुंठित होना—मंद पड़ जाना, क्षीण हो जाना । सद्वृत्ति—उत्तम शील या स्वभाव ।

पृ० ८१. परेड (अँग०)—सैनिक लोग एक साथ मिलकर जो युद्धोपयोगी व्यायाम आदि का अभ्यास करते हैं, उसी को अँगरेजी में परेड कहते हैं ।

पृ० ८२. मनोनीत होती हैं—पसंद आती हैं । प्रतिष्ठित—स्थिर किए हुए ।

(१०) सागर और मेघ

पृ० ८३. निरंतरता—क्रम, लग्गा । वाष्पमय शरीर—भाप के शरीर-वाले अर्थात् जिनके शरीर में कुछ सार नहीं है । खार—क्षार, नमक ।

पृ० ८४. व्रती—व्रत पर दृढ़ रहनेवाले । आयास—परिश्रम, उद्योग । उच्छृंखलता—उद्दंडता, उजड्डपन ।

पृ०—८५. जीवन-दान—जलदान। रसा—पृथ्वी। कोटिक्रम—ढंग, प्रकार और व्यवस्था।

पृ० ८६. आततायी—दूसरों को दुःख देनेवाले, उपद्रवी। अपाहिज—अंगभंग मनुष्य। शास्ता—शासक।

पृ० ८७. अम्ल—खटाई। नर-कंकाल—मनुष्य की हड्डी।

(११) त्याग और उदारता

[बाबू राधाकृष्णदास भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ के श्रावण की पूर्णिमा को काशी में हुआ था। जब ये १० महीने के थे, तभी इनके पिता मर गए थे। कुछ ही दिनों में इनके बड़े भाई भी चल बसे। तब बा० हरिश्चंद्र के यहाँ ही इनका लालन-पालन और शिक्षण होने लगा। ये सदैव रोगी रहा करते थे, इससे इनकी शिक्षा नियमपूर्वक न हो सकी। इन्हें हिंदी, उर्दू, फारसी, बँगला और गुजराती का अच्छा ज्ञान था। अँगरेजी भी इंट्रेंस तक पढ़ी थी। बा० हरिश्चंद्र के प्रभाव से इन्होंने लेखन-कला का अच्छा अभ्यास कर लिया था। इनकी पहली रचना "दुःखिनी बाला" है। फिर इन्होंने "निस्सहाय हिंदू", "महारानी पद्मावती", "प्रताप नाटक" आदि कोई २५ पुस्तकें रचीं। एक मित्र के साथ साझे में ठीकेदारी करके ये अपनी आजीविका चलाते थे। सं०१९६४ में इनका स्वर्गवास हुआ।]

पृ० ८९. अधम—नीच। अज्ञातवास—सबसे छिपकर एकांत में रहना, जिसमें कोई न जाने। इक्ष्वाकु—एक प्रतापी सूर्यवंशी राजा।

पृ० ९०. ही—थी। मिवार—मेवाड़। हलुकाय—हलका करके। बंचै—बचे। संचै—संचित करे, जोड़े, जमा करे।

पृ० ९१. किरतघ्न—कृतघ्न, जो अहसान न माने।

पृ० ९२. अगोरदार—थाती की रक्षा करनेवाला।

पृ० ९३. बेदरेग—बिना मोह-ममता के। दरियादिली—उदारता।

पृ० ९४. आफरीं—धन्य! शाबाश! हुब्बे-वतनी—देश-प्रेम। बेदारमगजी—बुद्धिमत्ता। मुइय्या—इकट्ठा। जंगजू—युयुत्सु, लड़ने के इच्छुक। जफाकश—कठिनाइयाँ सहनेवाला।

पृ० ९५. जेबा—उपयुक्त। इल्तिजा—प्रार्थना। मवजूल—प्रवृत्त। सरगुजश्त—जो कुछ हुआ या बीता हो। मुतवातिर—लगातार।

पृ० ९६. बेखरखशः—जिसमें कोई झगड़ा-झंझट न हो, निष्कंटक। अक्ल नाकिस—छोटी समझ, लघु मति।

पृ० ९७. शूरः—जिक्र, चर्चा। पैरा—चरण, पाँव।

पृ० ९८. निमित्त—कारण।

पृ० ९९. झटक-पट ताजीम—राज-दरबारों में होनेवाला एक प्रकार का सम्मान। लंगर—कड़ा। माँझा—एक प्रकार का आभूषण।

पृ० १०१. क्रूर—कुटिल।

(१२) महाराणा प्रतापसिंह

[रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा का जन्म सं० १९२० में सिरोही राज्य के रोहिडा गाँव में हुआ था। आप हिंदी और संस्कृत के बड़े विद्वान् हैं और अँगरेजी का भी ज्ञान रखते हैं। आप आजकल अजमेर-अजायबघर के सुपरिंटेंडेंट हैं। प्राचीन खोज के लिये आप बहुत प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म इसी विभाग में काम करते हुए बीता है। आपने प्राचीन-लिपि-माला नामक ग्रंथ लिखकर हिंदी का मस्तक ऊँचा किया है। इस ग्रंथ पर आपको हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है। आप राजस्थान के इतिहास में प्रमाण समझे जाते हैं। राजपूताने

के प्राचीन इतिहास पर आप बराबर प्रकाश डालते रहे हैं। आजकल आपका राजपूताने का सर्वांगपूर्ण इतिहास खंडशः प्रकाशित हो रहा है। इस संग्रह में "महाराणा का व्यक्तित्व" नाम से जो निबंध दिया गया है, वह इसी इतिहास से लिया गया है।]

पृ० १०२. गौरवास्पद—गौरव का स्थान।

पृ० १०४. अदम्य—जिसका दमन न किया जा सके, जो दबाई न जा सके। अध्यवसाय—बार बार विफल होकर भी लगातार किसी काम को करते रहना। थर्मोपिली—ग्रीस में एक जगह है जहाँ बहुत बड़ी शत्रु-सेना से घोर युद्ध करते हुए ३०० ग्रीक योद्धा मारे गए थे। मेरेथान—यूनान का एक प्रसिद्ध स्थान जहाँ बहुत भीषण युद्ध हुआ था। उपत्यका—दो पहाड़ों के बीच की नीची समभूमि, दरी।

(१३) उद्देश्य और लक्ष्य

[बाबू रामचंद्र वर्म्मा का जन्म काशी के उच्च खत्री कुल में, सं० १९४६ के माघ मास में, हुआ था। भारतजीवन प्रेस में बाबू रामकृष्ण वर्मा के पास रहकर ये हिंदी के अनुरागी हुए। संवत् १९६० से ही ये भारतजीवन में लेख लिखने लगे थे। सं० १९६४ में ये हिंदी-केसरी के पहले सहकारी संपादक और फिर संपादक हुए। १९६८ में ये बिहार-बंधु के संपादक हुए। तदनंतर नागरी-प्रचारिणी सभा के कोष-विभाग में इनकी नियुक्ति हुई। नागरी-प्रचारिणी सभा की पत्रिका और लेखमाला का भी इन्होंने कई वर्षों तक संपादन किया। तब से अब तक ये बराबर सभा की सेवा में हैं। इनके अब तक के रचे हुए ग्रंथो की संख्या लगभग ६० के होगी जिनमें से अधिकांश अनुवाद हैं। ये अँगरेजी, फारसी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि अनेक भाषाएँ जानते हैं।]

पृ० १०६. अवलंबित—निर्भर। मिर्च के टापू—हिंद महासागर के पूर्व के कुछ टापू जिनको मारिशस टापू के कारण मिर्च के टापू कहते हैं।

पृ० १०७. संधि—मेल। निर्णायक—निर्णय या फैसला करनेवाला।

पृ० १११. ईश्वर-प्रदत्त—परमात्मा की दी हुई। महानुभाव—बड़ा आदमी। दार्शनिक—दर्शनशास्त्र का ज्ञाता। वैज्ञानिक—विज्ञान का जाननेवाला। आविष्कर्ता—नवीन तथ्यों को खोज निकालनेवाला। प्रतिष्ठित—माननीय।

पृ० ११४. शिखर—चोटी। विशिष्ट—खास। उत्कट—उग्र, प्रचंड।

पृ० ११५. अवगत—जानकार, परिचित।

पृ० ११६. उच्चाकांक्षा—बढ़ने या ऊँचा होने की इच्छा। संस्कृत आत्मा—वह आत्मा जिसका संस्कार हो चुका हो, जो सभ्य हो।

पृ० ११७. लालायित रहना—उत्कट इच्छा रखना।

पृ० ११८. यथासाध्य—जहाँ तक बन पड़े। परिस्थिति—चारों ओर की दशा।

पृ० ११९. वासना—इंद्रिय-सुख की ओर ले जानेवाला मनोविकार। प्रस्तुत—तैयार।

पृ० १२०. तुख्मतासीर सोहबत असर—खानदान (कुलीनता) से झुकाव (प्रवृत्ति) होता है और संगति का प्रभाव पड़ता है। शेखसादी—ये फारसी के बड़े मशहूर कवि हो गए हैं। इनकी लिखी गुलिस्ताँ और बोस्ताँ आदि पुस्तकें बहुत लोक प्रिय हैं।

पृ० १२१. आदर्श—आइना, दर्पण, जिसका अनुकरण किया जाय। मर्यादा—सीमा।

पृ० १२३. बंदर—जहाजों के ठहरने की जगह। संसर्ग—संपर्क, संबंध।

पृ० १२४. वाल्मीकि—पहले इनका नाम रत्नाकर था। उस समय ये डाका डालकर अपनी आजीविका चलाते थे। एक बार इन्होंने

सप्तर्षियों को पकड़ा। उन्होंने इन्हें उपदेश दिया कि ऐसा जीवन ठीक नहीं है। यह आदत छोड़ दो। ये बोले-- क्या करूँ, कुटुंब का पालन करना है। सप्तर्षियों ने कहा—वे तुम्हारा पाप न बँटावेंगे। इन्होंने घर जाकर कुटुंब के लोगों से पूछा। कोई पाप बँटाने को तैयार न था। इन्हें वैराग्य हो गया। ऋषियों के उपदेश से ये राम-नाम जपने लगे। इनके ऊपर वल्मीक (दीमक की बाँबी) जम आई, पर इनका आसन न छूटा; इसी लिये इनको वाल्मीकि कहते हैं।

इब्राहीम अहमदशाह—ये एक प्रसिद्ध सूफी फकीर हो गए हैं। कहते हैं, ये पहले बादशाह थे। दासी की एक बात पर इन्हें वैराग्य हो गया।

तुलसीदास—इनका जन्म संवत् १५५४ में हुआ था। इन्हें अपनी स्त्री पर बड़ा प्रेम था। पल भर भी ये उसे नहीं छोड़ते थे। एक बार वह इनसे छिपकर मायके चली गई। शाम को इन्हें मालूम हुआ तो ससुराल को दौड़े। इनकी स्त्री को बड़ी लज्जा आई और उसने इन्हें फटकारा। उसने कहा कि जितना प्रेम आपका मेरी हाड़-चाम की देह पर है, यदि उसका आधा भी राम पर होता तो आपको मुक्ति मिल जाती। इसी पर तुलसीदास को वैराग्य हो गया।

पश्चात्ताप—किसी बुरे काम को करने पर पीछे होनेवाला दुःख।

पृ० १२५.—प्रतिभा—नित्य नई नई बातें सुझानेवाली बुद्धि। कष्ट-साध्य—जो काम कष्ट से हो। उपहासास्पद—हँसी के योग्य।

(१४) वज्रपात

[बाबू प्रेमचंद का जन्म संवत् १९३७ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ घराने में हुआ था। इनका पहला नाम धनपतराय था। इन्होंने बी० ए० तक शिक्षा पाई है। ये किसी नार्मल स्कूल में मास्टर थे। पहले ये उर्दू में लेख लिखा करते थे। उर्दू साहित्य में इनका बड़ा भारी नाम है। बाद को इनका ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित हुआ और

जब हिंदी में लिखने लगे तो यहाँ भी खलबली मचा दी। इनकी छोटी कहानियों में कला का पूर्ण कौशल प्रकट होता है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि आदि कई उपन्यास इन्होंने लिखे हैं जिनमें इनकी घटना-निर्माण-कला-पटुता दिखाई देती है। इनकी भाषा सरल और चलती होती है। नागरिक और ग्राम्य, राजनीतिक और सामाजिक, भीतरी और बाहरी सभी प्रकार के जीवन का इन्होंने बड़ी निपुणता के साथ चित्रण किया है। इन्होंने कुछ दिनों तक 'मर्यादा' का संपादन किया था और 'माधुरी' के सम्पादक मंडल में भी ये रह चुके हैं।]

पृ० १२६. नादिरशाह (जन्म १७४५,मृत्यु १८०४)—एक गड़रिए का लड़का था। यह अपने बाहुबल से फारस का बादशाह हुआ। सं० १६९१ में यह सिंहासन पर बैठा। इसने कई देश जीते। इसका भारत पर आक्रमण प्रसिद्ध है। उस समय मुहम्मदशाह दिल्ली के तख्त पर था। मुहम्मदशाह से इसका मुकाबला करते न बना और यह दिल्ली को खूब लूट-खसोटकर बड़ी दौलत ले गया।

पृ० १२७. हरमसरा—रनिवास, अंतःपुर। पराकाष्ठा—अंतिम सीमा।

पृ० १२८. आराइश—सजावट।

पृ० १२९. आतुर—उतावला। शोला—चिनगारी।

पृ० १३०. अजीज—प्रिय, प्यारा।

पृ० १३३. तुंद और गजबनाक—तेज और भयानक।

पृ० १३४. जिल्लत—अपमान, नीचा देखना।

पृ० १३९. भित्ति—दीवार। घरोंदा—वह छोटा घर जो बालक अपने खेलने के लिये बनाया करते हैं।

पृ० १४०. फातिहा—कब्र पर अंतिम प्रार्थना। निर्मम—ममताहीन, निर्दय।

(१५) साहित्य की महत्ता

[पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर जिला रायबरेली में संवत् १९२१ में हुआ था। 'सरस्वती' के भूतपूर्व संपादक होने के नाते उन्हें प्रायः सभी हिंदी-भाषा-भाषी जानते हैं। सरस्वती में आने से पहले आप जी० आई० पी० रेलवे में हेड क्लर्क थे और काफी वेतन पाते थे। हिंदी भाषा की सेवा के लिये ही आपने इस पद को छोड़ दिया। सं० १९६० से १९७९ तक आप सरस्वती के संपादक रहे। इन बीस वर्षों में सरस्वती की उत्तरोत्तर उन्नति हुई। यद्यपि द्विवेदीजी की रचनाओं में अनुवादों की ही अधिकता है, फिर भी वे निस्संदेह इस युग के हिंदी के सबसे बड़े उन्नायक हैं। आपने अपने युग की भाषा के शुद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया था। आपने एक प्रकार से जाति भर के व्याकरण-शिक्षक का काम किया है। आप अच्छे कवि भी हैं। आपने संस्कृत काव्यों की अच्छी समालोचनाएँ की है। नैषधचरितचर्चा, विक्रमांकदेवचरितचर्चा और कालिदास की निरंकुशता ऐसे ही ग्रंथ हैं। आपके ग्रंथों में शिक्षा, बेकन-विचार-रत्नावली, स्वतंत्रता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।]

पृ० १४१. श्रीसंपन्नता—शोभायुक्तता, उसका भरा हुआ भांडार। उत्कर्षापकर्ष—उन्नति और अवनति।

पृ० १४२. वंचित—विहीन, रहित। निष्क्रिय—क्रियाहीन, बेकाम। कालांतर—कुछ समय बाद। सतत–हमेशा। पौष्टिकता–बलवान् बनने का भाव। उत्पादन—उत्पत्ति करना। विकृत–बिगड़ा हुआ।

पृ० १४३. दयनीय—दया करने योग्य। आडंबर—पाखंड, दिखावा। विसर्जन करना—त्याग देना। रूढ़ियों का उत्पाटन—परंपराओं को निर्मूल करना। पुनरुत्थान—फिर से उठना या उन्नति करना। उन्नयन—ऊँचे उठाना।

पृ० १४३. पोप की प्रभुता को किसने"'पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ?—ईसवी पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में योरप में एक नवीन जागर्ति हुई जो इतिहास में 'रेनेसाँ' अर्थात् पुनरुत्थान नाम से विख्यात है। उस समय भिन्न भिन्न देशों में नवीन साहित्य का निर्माण हुआ, जिसका प्रभाव इतिहास पर स्पष्ट दिखाई देता है। लूथर, काल्विन आदि की रचनाओं को पढ़कर लोग पोप के प्रभुत्व का विरोध करने लगे। ये विरोधी लोग प्रोटेस्टेंट कहलाए। फ्रांस में रूसो, डिउरट प्रभृति विवेकवान् विद्वानों के ग्रंथों ने राज्यतंत्र के विरुद्ध भावों को प्रजा में भरा और इसके फल-स्वरूप, सन् १७९० के लगभग फ्रेंच विप्लव आरंभ हुआ। अंत में फ्रांस में प्रजातंत्र शासन की नींव पड़ी। पहले प्रजातंत्र ने योरप भर अपना विस्तार करना चाहा। इटली को विजय करके प्रजातंत्र के सेनाध्यक्ष नेपोलियन ने वहाँ के भिन्न भिन्न छोटे-मोटे राज्यों को मिटाकर बड़े बड़े राज्य बनाए। इस प्रकार इटली में एकता की ओर प्रगति हुई। इटली की एकता के भावों को सबसे अधिक आश्रय आगे चलकर ईसा की १९वीं शताब्दी में मेजिनी और गेरिबाल्डी की रचनाओं में मिला। इन्हीं रचनाओं का प्रभाव है कि आज हम इटली को एक स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र के रूप में देख रहे हैं।

पृ० १४४. औषधि—जड़ी-बूटी। संवर्धन—वृद्धि, बढ़ती। गर्त—गढ़ा। उत्थित—उठे हुए। किंबहुना—अधिक क्या कहें। आत्महंता—अपना ही नाश करनेवाला। समृद्ध—उन्नत। अनैसर्गिक—अस्वाभाविक। आच्छादन—ढकनेवाली वस्तु।

पृ० १४५. फ्रेंच—फ्रांस की भाषा। यह योरप में सबसे शिष्ट भाषा समझी जाती थी और इसका जानना आवश्यक समझा जाता था। अभी तक फ्रेंच भाषा का बड़ा आदर है। लैटिन—प्राचीन रोम की भाषा। इँगलैंड आदि देशों में लैटिन का; कुछ शताब्दी पहले, इतना

मान था कि लोग अपना लैटिन-ज्ञान दिखाने के लिये लैटिन भाषा के उदाहरण ढूँढ़ ढूँढ़कर अपनी रचनाओं में रखते थे। चूड़ांत—अत्यंत। शुश्रूषा—परिचर्या, टहल-सेवा। मनु, याज्ञवल्क्य और आपस्तंब—प्रसिद्ध स्मृतिकार, धर्मशास्त्र के प्रणेता।

(१६) ममता

[बाबू जयशंकर 'प्रसाद' कान्यकुब्ज वैश्य हैं। इनका जन्म सं० १९४६ में काशी में हुआ। इन्होंने घर पर ही संस्कृत, फारसी, हिंदी और अँगरेजी की शिक्षा पाई है। पं० केदारनाथ पाठक के संसर्ग में बँगला का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया। इनकी शैली पर बँगला की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। यह छाप इनकी सब प्रकार की रचनाओं में विद्यमान है, पर कहीं भी यह बाहरी नहीं लगती। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने साहित्य का कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। इन्होंने अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। कविताएँ भी इनकी बहुत हैं। अब तक इनकी कविताओं के छोटे मोटे पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कहानियाँ भी बड़ी रसीली होती हैं। समाज के विकृत स्वरूप का चित्रण ये बड़ी खूबी के साथ करते हैं, पर उसमें कुरुचि नहीं आने पाती। हाल में 'कंकाल' नाम का इनका एक उपन्यास निकला है जिसमें इनकी कहानियों के सब गुण विद्यमान हैं।]

पृ० १४७. रोहतास—बिहार का एक पुराना गढ़ और नगर। कंटक-शयन—काँटेदार बिछावन। दुर्गपति—किलेदार। विडंबना—उपहास, अपमान। प्रकोष्ठ—कोठा।

पृ० १४८. उत्कोच—घूस, रिश्वत। भूपृष्ठ—पृथ्वी का तल, भूतल। तृणगुल्म—घास फूस आदि।

पृ० १४९. प्राचीर—शहरपनाह। शहर की रक्षा के लिये बनाई हुई उसको चारों ओर से घेरनेवाली दीवार। भग्नचूड़ा—जिसका

शिखर टूट गया हो। शिल्प—स्थापत्य कला। विभूति—ऐश्वर्य, महत्ता। पंचवर्गीय भिक्षु—पहले पहल बुद्ध भगवान् ने पाँच भिक्षुओं को अपने नवीन धर्म का उपदेश दिया था, वही पंचवर्गीय भिक्षु कहलाते हैं। स्तूप—बौद्धों के वे दूह जिनमें बुद्ध की हड्डियाँ और बाल आदि रखे हैं। दीपलोक—दीए का उजाला। भीषण—भयावना।

पृ० १५०. ब्रह्मांड—सारा विश्व।

पृ० १५३. हुमायूँ—यह बाबर का लड़का था यह। सन् १५३०. में दिल्ली के तख्त पर बैठा। सन् १५३९ में चौसा के युद्ध में शेरशाह से हारा। फिर इसने अपना राज्य ले लिया, पर केवल छः मास जीवित रहा।

(१७) सूरदास

पृ० १५४. भग्नाश—जिनकी आशा पूरी न हुई हो। चौरासी वैष्णवों की वार्ता—यह गोकुलनाथजी का लिखा गद्य-ग्रंथ है। भक्त-माल—यह नाभादासजी की बनाई पद्य पुस्तक है जिसमें कई भक्तों का यश गाया गया है। दृष्टकूट—गूढ़ अर्थवाले पद।

पृ० १५६. आवेश—उमंग। मुक्तक—जिनका संबंध एक दूसरे से न हो, फुटकर। गेय—गाने योग्य। निरपेक्ष—जो दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता, बिना दूसरे की सहायता के स्वयं पूर्ण है। व्यंजता—अभिव्यक्ति, प्रकाश।

पृ० १५७. प्रदर्शित करना—दिखलाना। कलुष—पाप। उपालंभ—उलहना। सुषमा—सौंदर्य्य।

पृ० १६०. पर्याप्त—काफी। सूक्ष्मातिसूक्ष्म—बारीक से बारीक। अकृत्रिम—स्वाभाविक। नवोन्मेषशालिनी—नई जागर्ति उत्पन्न करनेवाली। अन्यतम—सबसे श्रेष्ठ। संकीर्ण—संकुचित।

(१८) कवित्व

पृ० १६३. पारिजात—कल्पवृक्ष। अकिंचित्कर—कुछ भी नहीं। मलयानिल–(मलय पर्वत से आती हुई) सुगंधित वायु। दिङ् मंडल–दिशाएँ। अरुणित—लाल।

पृ० १६५. संकट—विपत्ति। अनुसंधान—खोज। दिग्विजयी—सब दिशाओं को विजय करनेवाला। पूजोपहार—पूजा की भेंट।

पृ० १६७. मर्म-पीड़ित—जिसके हृदय में पीड़ा हो।

पृ० १६८. श्लोक का अर्थ—हे व्याध, जो तुमने कामावेश में आए हुए क्रौंच के जोड़े में एक को मारा सो तुम्हारा भी कभी मान न हो। कुत्सित—निंदनीय।

पृ० १६९. शरणार्थिनी–शरण चाहनेवाली। परिशोधित–शुद्ध।

पृ० १७०. काचः...द्युतिम्—काँच भी सोने के संपर्क से मणि की सी कांति पा जाता है। देदीप्यमान—चमकता हुआ।

पृ० १७१. दुःशील—बुरे स्वभाववाला। आलेख्य—चित्रकारी, चित्रकला।

(१९) श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता

[पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे उन विद्वानों में हैं जिन्होंने हिंदी समाचार-पत्रों के संपादन में अच्छा यश पाया। इनकी भाषा पुष्ट और ओजस्विनी होती है और सामयिक विषयों का इनका विवेचन मार्मिक होता है। ये बहुत दिनों तक 'भारतमित्र' के संपादक रहे। फिर 'श्रीकृष्ण-संदेश' का संपादन करते रहे। इनके लिखे कई उपयोगी ग्रंथ हैं।]

पृ० १७२. अलौकिकता—लोक से बाहर की बात, परम उत्कृष्टता। निःस्पृह—कुछ भी इच्छा न रखनेवाले। अवतीर्ण—अवतरित, उत्पन्न। राज्य-क्रांति—राज्य-विप्लव, राज्य की उलट-पुलट।

श्रीकृष्ण—ये विष्णु के एक अवतार थे। ये यदुवंशी थे। इनकी माता का नाम देवकी और पिता का वसुदेव था। कंस के डर से

वसुदेव इन्हें नंद के घर रख आए और वहीं इनका लालन-पालन हुआ। आगे चलकर इन्होंने कंस सहित कई राक्षसों का संहार किया। ये महाभारत के समय में हुए थे। इसी युद्ध के आरंभ में इन्होंने अर्जुन को गीता सुनाई थी।

बुद्धदेव—महात्मा बुद्ध का जन्म नेपाल की तराई में, एक राजवंश में, हुआ था। ये विक्रम के पहले छठी शताब्दी के अंत और पाँचवीं के आदि में विद्यमान थे। इन्होंने करुणा और प्रेम-मूलक अपना अलग धर्म चलाया जो बौद्ध मत कहलाता है। बौद्ध लोग हिंसा के विरोधी हैं, जात-पाँत नहीं मानते। बुद्धदेव का धर्म चीन, जापान, बरमा, श्याम, सिंहल और नेपाल तक में फैला है; परंतु भारत में उसका प्रायः नाम ही नाम है।

शंकराचार्य—इनका जन्म संवत् ९८० के लगभग माना जाता है। इन्होंने अद्वैत सिद्धांत और मायावाद का प्रचार किया। भारत से बौद्धमत का उच्छेद कर इन्होंने फिर से वेद-विहित धर्म को प्रतिष्ठित किया। वेदांत-सूत्र पर इनका भाष्य बहुत प्रसिद्ध है।

हरिश्चंद्र—ये एक रघुवंशी राजा हो गए हैं। इन्होंने सत्य की रक्षा के लिये चांडाल के हाथ अपने आपको बेच डाला था।

दधीचि—ये एक ऋषि थे। इन्होंने वृत्रासुर को मारने के लिये वज्र बनाने के निमित्त अपनी हड्डियाँ इंद्र को दी थीं।

शिवाजी—छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के समय में दक्षिण में हिंदू राज्य की स्थापना की थी। औरंगजेब तथा अन्य दक्षिणी मुसलमान राजाओं ने अपना सारा जन-बल और धन बल लगा दिया, पर वे इनको पराजित न कर सके। ये शरणागत तथा स्त्रियों के रक्षक और गो-ब्राह्मण के अनन्य भक्त थे।

गुरु गोविंदसिंह—ये सिखों के दसवें गुरु थे। इन्होंने सिखों की प्रसिद्ध सेना खालसा का संघटन किया था। ये जन्म भर मुसलमानों से लड़ते रहे। औरंगजेब इनसे बड़ा तंग था।

मुहम्मद—ये मुसलमानों के पैगंबर थे। इन्होंने इसलाम धर्म चलाया।

ईसा—ये ईसाई धर्म के संस्थापक थे।

हैनिबाल (ईसा से पूर्व २४७—१८३)—यह कार्थेजिया देश का सेनापति था। इसने रोम पर चढ़ाई की थी और कई बार बहुत बड़ी सेनाओं पर विजय पाई थी। सबसे पहले इसी की सेना ने आल्प्स पर्वत को पार किया था।

वाशिंगटन (सन् १७३२—१७९९)—इसने अमेरिका के स्वातंत्र्य-युद्ध में भाग लिया था। यह अमेरिका का सेनापति था। पीछे यह १७८९ में अमेरिका के प्रजातंत्र का सबसे पहला राष्ट्रपति हुआ। दूसरे चुनाव में भी यही सभापति हुआ, पर तीसरे चुनाव में खड़ा नहीं हुआ।

अब्राहम लिंकन—यह भी अमेरिकन प्रजातंत्र का राष्ट्रपति हुआ है। यह बड़ा दयालु और दृढ़-व्रत प्रसिद्ध है।

पृ० १७४. सह्याद्रि—यह पर्वत पश्चिमी घाट में है।

जरासंध—इस राजा ने कृष्ण को सत्रह बार हराया था। सत्रहवीं बार इसने कृष्ण की सेना को घेरकर चारों ओर से आग लगा दी जिसमें वहीं जलकर राख हो जायँ। पर मायावी कृष्ण किसी प्रकार सेना सहित निकल आए। जरासंध को कृष्ण ने भीमसेन के द्वारा द्वंद्व युद्ध में मरवाया।

पृ० १७५. चेदि—शुक्तिमती नदी के पास एक प्राचीन देश था। वर्तमान ग्वालियर का चँदेरी नगर उसी देश की सीमा में था। पांचाल—पंजाब। परंतु कौरव-पांडव पांचाल देश के नहीं थे। पांचाल देश का राजा द्रुपद था जिसकी पुत्री द्रौपदी पांडवों को ब्याही थी। गर्विष्ठ—घमंडी। अंतःकलह—घरेलू झगड़ा। असह्य-जो सहा न जा सके।

पृ० १७६. निरीक्षण कीजिए—देखिए। द्रौपदी के पाँच पति—अर्जुन ने स्वयंवर में मत्स्यवेध करके द्रौपदी की वरमाला पाई थी। उस समय ये लोग वनवास में थे। जब माता के पास गए तो हास्य में माता कुंती से बोले कि आज बड़ी सुंदर भिक्षा लाए हैं। माता ने बिना जाने-बूझे कह दिया—अच्छा है, सब बाँट लो। माता के वचनों की रक्षा के लिये सब पांडवों का विवाह द्रौपदी के साथ हुआ।

पृ० १७७. गुरु-कुल और विद्यापीठ—ये आजकल की यूनिवर्सिटियों (विश्वविद्यालयों) की तरह की संस्थाएँ थीं। सर्वतंत्र-स्वतंत्र—सबके शासन से बाहर, स्वाधीन। द्रोणाचार्य—ये बहुत तेजस्वी ब्राह्मण थे। ये कई राजाओं के गुरु थे। कौरव-पांडवों को युद्ध-विद्या इन्होंने सिखाई थी। सांदीपनी—ये कृष्ण के गुरु थे।

पृ० १७८. श्रीकृष्ण द्वैपायन—महाभारत के रचयिता व्यास मुनि। निवृत्ति-परायण—संसार से विरक्त। निवृत्ति-मार्ग—वैराग्य। प्रवृत्ति-मार्ग—संसार के कार्य्यों में अनुरक्त होकर चलना। मोक्ष-धर्म—निवृत्ति-मार्ग। राज-धर्म—प्रवृत्ति-मार्ग के अंतर्गत राजाओं का कर्तव्य। राज्यसूत्र—राज्य की बागडोर। एकलव्य—यह एक भील युवक था। द्रोणाचार्य ने जब इसे धनुर्विद्या सिखाना अस्वीकार कर दिया तब यह द्रोणाचार्य की एक मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसे गुरु मान धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगा। यह बड़ा कुशल धनुर्धर हो गया। एक बार इसने दुर्योधन के कुत्ते का केवल शब्द सुनकर उसका मुख बाणों से भर दिया। द्रोणाचार्य को जब उसी के मुख से सारी कथा मालूम हुई तो उन्होंने उससे छल करके उसके दाहिने हाथ का अँगूठा गुरु-दक्षिणा में माँग लिया जिससे वह धनुष चलाने के अयोग्य हो गया। शृंखला—जंजीर। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों की यथाक्रम स्थिति।

पृ० १८०. पर्जन्य-वृष्टि—जल-वर्षा। विद्युल्लता—बिजली की लता। जब बिजली चमकती है तो वह लता के ऐसी लकीर सी दिखाई देती है। इसी लिये उसे लता कहा गया है।

पृ० १८१. आर्य-संस्कृति—आर्यों का संस्कार, आर्य सभ्यता। आविर्भूत होकर—प्रकट होकर। उग्रसेन—यह कंस का पिता और कृष्ण का नाना था।

पृ० १८२. सार्वभौम सत्ता—सारी पृथ्वी पर अधिकार। गोमंत—सह्याद्रि पहाड़ पर गोमती देवी का स्थान। करवीर—ब्रह्मावर्त देश में दृशद्वती (ब्रह्मपुत्र) के किनारे एक प्राचीन राजधानी। समुद्र-वेष्टित—समुद्र से घिरा हुआ।

पृ० १८३. राजसूय यज्ञ—प्राचीन काल में बड़े बड़े राजा यह यज्ञ करते थे। इसे करनेवाला राजा सम्राट् पद का अधिकारी होता था। इष्ट, पशु, सोम और दार्वी होम इसके प्रधान अंग हुआ करते थे।

पृ० १८४. राजनीति-जिज्ञासु—राजनीति जानने के इच्छुक। बिस्मार्क (सन् १८१५–१८९८)—यह पहले जर्मनी का पर-राष्ट्र-सचिव और फिर प्रधान मंत्री रहा। इसने जर्मनी की छोटी छोटी रियासतों को एक में मिलाने का बड़ा दृढ़ प्रयत्न किया और उन्हें एक बलिष्ठ साम्राज्य का रूप दिया। अतएव यह आधुनिक जर्मनी का निर्माता कहा जाता है। षड्यंत्र—कु-चक्र, बुरी अभिसंधि।

पृ० १८५. अक्षौहिणी—पूरी चतुरंगिणी सेना। इसमें १,०६,३५० पैदल, ६५, ६, १० घोड़े, २१, ८, ७० रथ और २१,८,७० हाथी होते थे। रहस्य—भेद, गूढ़ मर्म।

पृ० १८६. परापहारी—दूसरों का धन लूटनेवाले। एनी बेसंट—ये एक आयरिश महिला थीं जिन्होंने भारत को अपनी मातृभूमि बना लिया था और निरंतर इस देश की सेवा में लगी रहती थीं। इन्होंने भारतीय

उपनिषदों का ज्ञान विदेशों में फैलाने का बड़ा प्रयत्न किया है। इनकी अवस्था इस समय ८४ वर्ष के लगभग है ।

पृ० १८७. अविच्छिन्न—लगातार। मुखमस्तीति वक्तव्यं... हरीतकी—मुँह से कहने को कहा जा सकता है कि दश हाथ की हड़ होती है । परीक्षित—यह अर्जुन का पोता और अभिमन्यु का पुत्र था और मरा हुआ पैदा हुआ था। कृष्ण ने इसे जीवन-दान किया।

पृ० १८८. चंद्रगुप्त नाम के दो राजा भारतवर्ष में हुए। एक मौर्य्यवंशी और दूसरा गुप्तवंशी । चंद्रगुप्त मौर्य्य ने सिकंदर के अधीनस्थ मलयकेतु (सेल्यूकस) को घोर पराजय दी थी जिससे उसे अपनी कन्या का विवाह चंद्रगुप्त मौर्य के साथ कर देना पड़ा था। गुप्त राजा भी बड़ा प्रतापी था। इसने हिंदू धर्म की बड़ी उन्नति की थी।

पुष्यमित्र—यह पहले मौर्य्यवंशी बौद्ध राजा का मंत्री था। उससे राज्य छीनकर यह स्वयं सिंहासन पर बैठ गया और हिंदू राज्य की स्थापना की ।

समुद्रगुप्त—यह गुप्तवंशी चंद्रगुप्त का पुत्र था। इसने राजसूय यज्ञ करके सारे भारतवर्ष को विजय किया था ।

विक्रमादित्य—एक प्राचीन राजा जो बड़ा प्रतापी था। कहते हैं कि इसी ने विक्रम-संवत् की स्थापना की। इस संवत् को स्थापित हुए १९९१ वर्ष हो गए हैं।

पृ० १८९. अश्वत्थामा—द्रोणाचार्य्य का पुत्र।

पृ० १९०. संहत संग्राम—वह लड़ाई जिसमें बहुत मार-काट हो रही हो। भीष्म—धृतराष्ट्र के चाचा और कौरव-पांडवों के पितामह।

पृ० १९१. शिखंडी—कहते हैं कि शिखंडी पहले स्त्री था। उसे पुरुष-रूप में स्त्री कहकर भीष्म पितामह ने उसके साथ युद्ध नहीं किया था। इसी की आड़ में अर्जुन ने भीष्म पितामह पर बाण बरसा-

कर उनको मारा था। अपनी मृत्यु का उपाय भीष्म पितामह ने स्वयं बताया था ।

रुक्मी—कुंडिनपुर के राजा भीम का पुत्र, जिसकी बहिन रुक्मिणी का हरण कर कृष्ण ने उसके साथ विवाह किया था।

पृ० १९३. नेपोलियन (१७६९-१८२१ ई०)—यह पहले फरासीसी प्रजातंत्र का राष्ट्रपति और फिर फ्रांस का सम्राट् हुआ। यह एक साधारण सैनिक था; पर धीरे धीरे उन्नति करके इतने भारी पद पर पहुँचा था। इसने बड़े भारी भारी युद्ध किए थे । यह कहता था कि 'असंभव' शब्द मूर्खों के कोश में रहता है।

पृ० १९४. सूत्र चलाते थे—परिचालन करते थे।

पृ० १९५. सुदामा—यह कृष्ण का सहपाठी और एक दीन, किंतु परम पुण्यशील ब्राह्मण था। अपनी स्त्री के कहने से यह द्वारका गया था। परंतु कृष्ण से कुछ माँग नहीं सका। कृष्ण ने स्वयं इसको विपुल ऐश्वर्य्य दिया था।

उद्धव—ये कृष्ण के परम भक्त थे । पहले ये ज्ञान-मार्ग को उत्तम समझते थे और ज्ञान का इन्हें कुछ गर्व था। श्रीकृष्ण ने गोकुल भेजकर इनका वह गर्व हरण किया। गोपियों को जब ये ज्ञान का उपदेश देने लगे, तब उन्होंने इन्हें खूब बनाया । तब से इन्हें भक्ति की महिमा जान पड़ी और परम भक्त हो गए।

भीष्म जैसे मृत्युंजय—भीष्म ने अपने ब्रह्मचर्य्य के बल से मृत्यु को अपने वश में कर लिया था। जिस समय इन्हें युद्ध में प्राण-घातक घाव लगा था, उस समय सूर्य्य दक्षिणायन था, इसलिये इन्होंने ६ मास तक अपनी मृत्यु रोक रखी और जब सूर्य्य उत्तरायण हुआ तब ये अपनी इच्छा से मरे। कहा जाता है कि इन्हें परशुराम से इच्छामृत्यु का वर मिला था।

पृ० १९६. कोठीवालशाही—पूँजीपतियों का प्रभुत्व।

पृ० १६७ उपनिषद—इनकी रचना वेदों के बाद हुई थी। इनमें आध्यात्मिक विचारों का गूढ़ विवेचन किया गया है। वेद अर्थात् श्रुति के अंतिम अंश होने के कारण इनमें प्रतिपादित शास्त्र वेदांत कहलाता है जिज्ञासु—जानने की इच्छा रखनेवाला ।

पृ० १६८. लोकमान्य तिलक—इनका पूरा नाम बाल गंगाधर तिलक था। इन्होंने एक गूढ़ दार्शनिक ग्रंथ 'गीतारहस्य' लिखा था। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि गीता में कर्म अर्थात् पूर्ण कर्तव्य-पालन की शिक्षा है। ज्ञानोत्तर कर्म-सन्यास—ज्ञान के बाद कर्मकांड (पूजा-पाठ इत्यादि) का त्याग करना। अद्वैतवाद—एक दार्शनिक मत जिसमें यह माना जाता है कि जड़ जगत्, आत्मा और परमात्मा का भेद अवास्तविक है। वास्तव में वे सब एक हैं। भेद केवल माया के कारण दिखाई पड़ता है और भ्रम मात्र है। द्वैतवाद—वह सिद्धांत जिसमें जड़ जगत्, आत्मा और परमात्मा की भिन्न भिन्न सत्ता मानी जाती है। द्वैताद्वैत—वह सिद्धांत जिसमें यह माना जाता है कि परमात्मा ही जगत् और जीवों को बनाता है और अपने में ही से बनाता है। इसमें इन सबकी एकता और भिन्नता दोनों सिद्ध होती हैं। विशिष्टाद्वैत—इसमें परमात्मा, आत्मा और जड़ जगत् का भेद तो माना जाता है, परंतु इनमें पूर्ण और अंश का भेद रखा जाता है। परमात्मा पूर्ण है और आत्मा तथा जगत् उसका एक अंश भर है। यही इसका सिद्धांत है अधिष्ठान—आधार या देश जिसका कार्य पर प्रभाव पड़ता है। कर्त्ता—करनेवाला। करण—जिससे करवाया जाय। दैव—भाग्य। ईश्वरार्पण बुद्धि—जो कुछ करे, उसका फल अपने लिये न चाहे, फल परमात्मा पर छोड़ दे।

पृ० २०१. विश्वात्मा—सारे विश्व का जो आत्मा हो, परमात्मा।

(२०) उसने कहा था

[पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को जयपुर में हुआ था। बाल्यकाल में इन्होंने अपने पिता पं० शिवराम से संस्कृत की अच्छी शिक्षा पाई थी। सन् १८९३ में इन्होंने महाराजाज कालेज में अँगरेजी पढ़ना आरंभ किया। सन् १९०३ में ये प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रथम हुए। तब ये खेतड़ी के स्वर्गवासी राजा साहब के संरक्षक बनाकर मेयो कालेज अजमेर भेजे गए। वहाँ ये बहुत समय तक अध्यापक रहे। कुछ वर्ष के बाद ये काशी-विश्वविद्यालय के संस्कृत कालेज के अध्यापक होकर आए और वहीं संवत् १९७९ में इनका स्वर्गवास हुआ। कुछ मित्रों के सहयोग से इन्होंने जयपुर में 'नागरी भवन' की स्थापना की थी। कई वर्ष तक ये 'समालोचक' के संपादक रहे। नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'लेखमाला' का भी इन्होंने बहुत समय तक संपादन किया। गुलेरीजी भाषा-विज्ञान के बड़े अच्छे विद्वान् थे। पुरानी हिंदी पर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में एक महत्त्वपूर्ण लेखमाला निकाली थी। इन्होंने समय समय पर अन्य फुटकर निबंध भी लिखे। अपने जीवन के अंत के कुछ वर्षों में इन्होंने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का संपादन किया।]

पृ० २०२. बंबूकार्ट—टाँगा नाम की सवारी जिसे एक घोड़ा खींचता है।

पृ० २०५. कुड़माई—मँगनी। सालू—लाल रंग का ओढ़ने का कपड़ा।

पृ० २०५. गैबी गोला—ऐसा बंब का गोला जिसका पता नहीं लगता कि कहाँ से फेंका जाता है। रिलीफ—लड़नेवालों को कुछ दिन आराम देने के लिये जो नई सेना उनका स्थान लेने के लिये

आती है। दरबार साहब—सिखों का मंदिर जहाँ सिखों की धर्म-पुस्तक (गुरु ग्रंथ साहब) रहती है।

पृ० २०६. चंबा—काश्मीर का एक सुंदर स्थान। सिगड़ी—अँगीठी। विदूषक—हँसोड़, मसखरा।

पृ० २०७. घुमा—पंजाब में जमीन की एक नाप। बूटे—पौधे। निमोनिया—एक रोग जिसमें शीत के कारण फेफड़ों पर सूजन हो जाती है। बुलेल—पंजाब की एक छोटी नदी या नाला।

पृ० २०६. जरसी—ऊनी बनियान।

पृ० २१५. कपाल क्रिया—चिता पर जब शव कुछ जल जाता है तब उसके ब्रह्मांड में छेद कर डालते हैं, इसी को कपाल-क्रिया कहते हैं।

पृ० २१६. संगीन—बंदूक के मुख पर लगाने की एक छुरी जिससे समय पर बंदूक से भाले का भी काम लिया जा सकता है। क्षयी—जिसे क्षय हो गया हो। कहते हैं कि क्षय रोग सबसे पहले चंद्रमा को हुआ था। यहाँ पर कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का चंद्रमा हो सकता है।

दंतवीणोपदेशाचार्य—दाँतों को वीणा का उपदेश देनेवाली। इतनी ठंडी कि दाँत आपस में लड़कर बजने लगें। रेजीमेंट—लड़ाई के सिपाहियों का दल। ओबरी—घर के भीतर का छाजन।

(२१) संतों की सहिष्णुता

[पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी का जन्म गोरखपुर ज़िले के गजपुर गाँव में प्रसिद्ध रईस पं० मातादीन के घर, संवत् १९४२ में, हुआ। सं० १९६५ में बी० ए० पास कर ये आजमगढ़ जिले में तहसीलदार नियत हुए। बहुत छोटी अवस्था में ये पत्र-पत्रिकाओं में कविता और लेख लिखा करते थे। इनकी कविताओं से इनकी सरल प्रकृति, सहृदयता और स्वदेश-प्रेम प्रकट होता है। इनके गद्य-लेख भी बड़े मार्के के होते थे। ३६ वर्ष की अवस्था में ही इनका देहांत हो गया। फिर भी इतने ही थोड़े समय में फुटकर कविताओं और लेखों के अतिरिक्त

नीचे लिखे पद्य और गद्य ग्रंथ लिखे—रणजीतसिंह का जीवन-चरित, भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष, आर्य्यललना, गोरखपुर विभाग के कवि, मुसलमानी राज्य का इतिहास (दो भाग), प्रेम, रामलाल (उपन्यास), बंधुविनय (कविता), धनुषभंग (कविता) ।]

पृ० २२३. नवधा-भक्ति—भक्ति नौ प्रकार की मानी जाती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन । नौरतन की चटनी—जिसमें ये नौ मसाले पड़ते हैं—खटाई, गुड़, मिर्च, शीतलचीनी, इलायची, सौंफ, जीरा, केसर और जावित्री । तअस्सुब—धार्मिक पक्षपात । पोलिटिकल—राजनीतिक । शुबहा—संदेह ।

पृ० २२४. अहं ब्रह्मास्मि—मैं ही ब्रह्म हूँ । यह वेदांत का एक महावाक्य है । शिवोऽहम्—मैं शिव हूँ ।

विवेकानंद—स्वामी विवेकानंदजी का जन्म कलकत्ते में हुआ था । इन्होंने अँगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी; पर इनका जीवन संसार से उचट गया था । इन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस को अपना गुरु बनाया । विवेकानंद बड़े योगी और ज्ञानी महात्मा थे । सं० १९५० में अमेरिका में एक सर्व-धर्म-सम्मेलन हुआ । विवेकानंदजी उस सम्मेलन में गए थे और उन्होंने हिंदू धर्म की उच्चता प्रदर्शित की जिससे सभी धर्मों के प्रतिनिधि दंग रह गए । सं० १९५७ में आप पेरिस के धर्म-सम्मेलन में निमंत्रित हुए थे । सं० १९५९ में आपकी मृत्यु हुई ।

स्वामी रामतीर्थ—इनको कोई कोई गोसाईं तुलसीदासजी के कुल का मानते हैं । इनका जन्म सन् १८७४ में पंजाब के गुजरानवाला जिले में हुआ । ये भी बड़े ज्ञानी महात्मा हुए । २६ वर्ष की अवस्था में ये सन्यासी हो गए । वे वेदांत के माननेवाले थे । अमेरिका तक में इन्होंने वेदांत का प्रचार किया । ३६ वर्ष की अवस्था मे इन्होंने टेहरी (गढ़वाल) में शरीर त्याग किया ।

पाँचभौतिक तत्व—वायु, तेज, आकाश, पृथ्वी और जल ये पंच-भूत कहलाते हैं।

पृ० २२५. सन्नद्ध—तैयार। फानी—नाशवान्। सरशय्या—दक्षिणायण में भीष्म पितामह को बाण लगे थे, जो उनकी मृत्यु के कारण हुए। परन्तु वे दक्षिणायन में मरना नहीं चाहते थे। इसलिये उन्होंने मृत्यु को छः मास के लिये टाल दिया। बाणों से वे विंधे तो थे ही। उन्हीं से उन्होंने शय्या का काम लिया। उनके तकिए के लिये भी बाण ही गाड़े गए। इसी शय्या पर लेटे-लेटे उन्होंने कौरव-पाण्डवों को राजनीति और धर्म का उपदेश दिया था।

पृ० २२६, मसीह को उनके धर्म-विरोधियों ने सूली पर लटका-कर मार डाला था। "हे परमात्मन् इन भूले हुओं को क्षमा कर" यही उनकी अंतिम प्रार्थना थी। रोजे—मुसलमानों का उपवास जो रमजान मास में महीने भर रखा जाता है और जिसमें वे दिन भर निराहार रहते हैं। नमाज—मुसलमानों की ईश-प्रार्थना। प्रतिदिन पाँच बार नमाज पढ़ी जाती है। कलमा—मुसलमानों का मुख्य धर्म-वाक्य जो इस प्रकार है—ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मद उर्रसूल इल्लाह। अर्थात्—उस एक ईश्वर के सिवा और कोई ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसका रसूल या दूत है।

पृ० २२७. आरजूए दिल—हार्दिक इच्छा।

पृ० २२८. लैला मजनूँ का किस्सा फारसी में बड़ा प्रसिद्ध है। लैला के लिये मजनूँ मारा मारा फिरता था, परंतु वह विवश थी। इस शरीर से मजनूँ को लैला नहीं प्राप्त हुई। जब मजनूँ मर गया तब लैला उसकी कब्र पर आँसू बहाने गई। सूफी साधु इस कहानी को आध्यात्मिक रूप देते हैं। उनके लिये लैला परमात्मा है और मजनूँ जीवात्मा। परमात्मा से मिलने के लिये जीवात्मा को घोर परिश्रम करना पड़ता है और इस शरीर में यह मिलन नहीं हो सकता।

सरमद का ब्याह—जीवात्मा और परमात्मा का मिलन सूफियों की भाषा में ब्याह कहलाता है। नैहर—यह संसार मायका माना गया है जिसे छोड़कर अंत को ससुराल (परलोक) जाना ही पड़ेगा। लालिमा की रेखा—सौभाग्य का चिह्न। सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपनी माँग में सेंदुर भरा करती हैं।

पृ० २२६. जाबजा—हर जगह। साक़ी—मद्य पिलानेवाला, यहाँ ईश्वर से अभिप्राय है। कैफ—नशा। खुमार—नशे की गरमी। अनलहक़—मैं ईश्वर हूँ।

पृ० २३०. रगड़ लगने से.....लग जाती है—चंदन का प्रभाव शीतल होता है पर फिर भी उसमें आग लग जाती है।

अकबर (१५४२–१६०५)—इसकी नीति थी कि जहाँ तक बन पड़े, मित्र बनाकर ही हिंदू राजाओं को अधीन कर लिया जाय।

सिख और मरहठे—गुरु गोविंदसिंह ने सिखों का सैनिक संघटन किया और शिवाजी ने मरहठों का। सिख पहले केवल एक धार्मिक संस्था के अनुयायी थे और मरहठे लुटेरे समझे जाते थे। फतहयाब—विजयी।

सतनामी—यह विरक्तों का एक संप्रदाय था। ये औरंगजेब के विरुद्ध सं० १७२६ में बड़ी बहादुरी से लड़े थे, पर अंत में हार गए। औरंगजेब ने इनका प्रायः अंत ही कर दिया। इनका केंद्र नारनौल (पंजाब) में था। युद्ध भी वहीं हुआ था।